श्री विष्णु भगवान्

श्री विष्णु भगवान्

श्री भागवत-दर्शन

भागवती कथा

(बावनवाँ खण्ड)

व्यासशास्त्रोपवनतः सुमनांसि विचिन्वता ।
कृता वै प्रभुदत्तेन माला 'भागवती कथा' ॥

लेखक
श्री प्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी

संशोधित मूल्य २ ०-रुपया

द्वितीय संस्करण १००० प्रति | चैत्र २०२६ मार्च १९७२ | मूल्य—१.६५

मुद्रक—वंशीधर शर्मा, भागवत प्रेस, ८५२ मुट्ठीगंज प्रयाग

विषय-सूची

विषय	पृष्ठाङ्क
१. यदुकुल को विप्रों द्वारा विनाश का शाप	१
२. विप्र शाप का व्यर्थ प्रतीकार	१४
३. वसुदेव नारद सम्वादारम्भ	२२
४. नारदजी द्वारा वसुदेवजी के प्रश्न का अभिनन्दन	३७
५. विदेह और योगेश्वर कवि सम्वाद	४५
६. नाम संकीर्तन महिमा	५४
७. योगेश्वर हरि द्वारा भगवद्भक्तों के लक्षण	६७
८. परम भागवतों के लक्षण	७८
९. योगेश्वर अन्तरिक्ष द्वारा भगवान् की माया का वर्णन	८६
१०. योगेश्वर प्रबुद्ध द्वारा माया से पार होने का उपाय	९६
११. भागवत धर्म	१०८
१२. योगेश्वर पिप्लायन द्वारा नारायण स्वरूप का वर्णन	१२५
१३ योगेश्वर आविर्होत्र द्वारा कर्मयोग का वर्णन	१३८
१४. प्रभु पूजा पद्धति	१४५
१५. योगेश्वर द्रुमिल द्वारा भगवत लीलाओं का वर्णन	१७६
१६. अन्य अवतार चरित	१८८
१७. योगेश्वर चमस द्वारा हरिविमुखजनों की गतिका वर्णन	१९५
१८. वेद निवृत्ति परक है	२०७
१९. किस युग में किस विधि से पूजा की जाय	२१६
२०. कलिकाल का युगधर्म	२२५
२१. श्री वसुदेव-नारद सम्वाद की समाप्ति	२३७

—:—

यदुकुल को विप्रों द्वारा विनाश का शाप

[११९६]

विभ्रद् वपुः सकलसुन्दरसन्निवेशम्
कर्माचरन् भुवि सुमङ्गलमाप्तकामः ।
आस्थाय धाम रममाण उदारकीर्तिः
संहर्तुमैच्छत कुलं स्थितकृत्यशेषः ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० १ अ० १० श्लो०)

छप्पय

यों लै कें अवतार श्याम बल असुर सँहारे ।
भार भूत भूपाल महाभारत महँ मारे ॥
भू को भार उतार जानि निज कुल कूँ दरपित ।
ताहू को संहार करन हरि सोचत हरषित ॥
विप्रनि कुपित कराइकें, यदुकुल शाप दिखाइकें ।
गमने प्रभु निज धाम कूँ, लीला ललित दिखाइकें ॥

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! भगवान श्रीकृष्णचन्द्र ने ऐसा अद्भुत मनोहर शरीर धारण किया था, जिसमें समस्त सुन्दर सामग्रियों का समावेश हो जाता था, स्वयं तो वे आप्तकाम थे फिर भी लोक में मनका मंगल कृत्य करते हुए द्वारावती में निवास करते हुए रमण करते थे। उन्हीं उदार कीर्ति भगवान् वासुदेव ने अपने कुल का भी नाश करने की इच्छा की, क्योंकि उनके अवतार का यहाँ एक कार्य अवशिष्ट रह गया था।

मकड़ी जो जाला बनाती है, वह सभी जाला उसका अपना है, अपनी क्रीड़ा के लिये वह उसे बनाती है। उसमें उसकी द्वैध बुधि नहीं कि इतना जाला मेरा है, इतना किसी अन्य का है। बनाते समय भी उसकी क्रीड़ा करने की ही इच्छा थी और जब उसे वह निगलती है, तब भी क्रीड़ा ही है। क्रीड़ा के अतिरिक्त उसमें कुछ है ही नहीं। हम लोग अपनी क्षुद्रबुद्धि के कारण यह सकल्प करते हैं, यह मेरा है यह पराया है, किन्तु जो परात्पर प्रभु हैं, सभी जिनकी लीला का विलास मात्र है, उनके लिये सब एकसे हैं। भगवान् भू का भार उतारने के निमित्त अवतार लेते हैं, उन्हे जो भी भाररूप दिखायी देता है, उसी का संहार कर देते है, करा देते हैं, उसमें अपने पराये का भेदभाव नहीं। उनके लिये कोई अपना पराया है ही नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भगवान् ने बलराम और श्री-कृष्ण के रूप में अवतार लेकर प्रथम व्रज मे असुरों का संहार किया, फिर मथुरा मे आकर भू के भारभूत भूपतियों को मारा तद-नन्तर द्वारका मे निवास करके राजाओं के रूप मे उत्पन्न हुए असुरो का स्वयं मारा दूसरों से मरवा दिया। महाराज पांडु के पाँचों पुत्रों को भी उन्होंने भू भार उतारने के अपने कृत्य में सहा-यक बनाया। उनकी ही इच्छा से कपट द्यूत की सभा रची गयी, उनकी इच्छा से कौरवों द्वारा पाडव बुलाये गये, उन्हीं की इच्छा से द्यूत का खेल हुआ। उन्हीं की इच्छा से कौरवों ने पाडवों का अपमान किया। उन्हीं की इच्छा से रजस्वला द्रौपदी के कौरवों द्वारा केश खींचे गये और उन्हीं के सङ्कल्प से पांडव कौरवों पर कुपित हुए। वे न चाहते, तो महाभारत हो ही नहीं सकता था, वे सर्वसमर्थ थे, किन्तु वे जानते थे, महाभारत न होगा, तो भू का भार उतरेगा नहीं। ये असुर जो अब राजा बनकर पृथ्वी पर उत्पन्न हो गये हैं, ये बड़े बलदर्पित हैं। तपस्या और सैन्य बल से युक्त हैं,

मेरे अतिरिक्त इन्हें अन्य कोई मार नहीं सकता। अतः उन्होंने कौरव पाडव दोनो को ही कुपित करा दिया। पृथ्वी भर के राजा शूरवीर वली उस युद्धरूपी यज्ञ में आये और रण की वलिवेदी पर आकर वलिदान हो गये। स्वय तथा अपनी भुजाओं से सुरक्षित यादवों द्वारा पृथ्वी की भारभूत भूपतियों की सेनाओं का सहार करा दिया। दुष्ट मारे गये। वढी हुई जनसख्या न्यून हो गयी। वल दर्पित समस्त राजा मारे गये। धर्मराज राजा वन गये। भगवान् सुखपूर्वक द्वारावती मे निवास करने लगे। सव लोग कहने लगे 'भू का भार उतर गया, उतर गया।' किन्तु श्रीकृष्ण इसका अनुमोदन नहीं करते थे। भू का भार उतर जाता तो फिर भगवान् अपने धाम को पधार जाते। इसलिये वे मौन थे।

शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! महाभारत मे तो प्रायः सभी पृथ्वी के भारभूत शूरवीर क्षत्रिय मर गये, इसके अनन्तर तो कोई वली राजा रहे नहीं। फिर भगवान् ने अभी तक भू का भार उतरा हुआ क्यों नहीं समझा ?"

सूतजी वोले—"महाराज! जो जिस विषय का विशेषज्ञ होता है, वही उस विषय के गुण दोषों को समझता है। भगवान् ही इस वात को जानते हैं, कौन पृथ्वी का भार भूत है किसके सहार से भू का भार उतरेगा। महाभारत हो जाने के अनन्तर भगवान् सोचने लगे—"लोग कहते है, भू का भार उतर गया, किन्तु मैं इसे नहीं मानता। क्योंकि अभी तक यह असह्य यादव कुल तो वना ही हुआ है। यह भी पृथ्वी के लिये साधारण भार नहीं है। क्योंकि मैंने इनके वश मे अवतार लिया है, इसलिये किसी अन्य का तो इन्हें मारने का साहस हो नहीं सकता। इन्हें धन की कमी नहीं ये धन वैभव से परिपूर्ण हैं। धन का मद भी इन्हे व्याप्त है। निरन्तर खान पान और वन-

विहार में ही ये सब फँसे रहते हैं। नित्य मेरे आश्रित रहने से इन्हें कोई भय भी नहीं। इसलिये जब तक ये अगणित यदुकुल के लोग रहेंगे, तब तक भू का पूरा भार न उतरेगा। दूसरा द्वारा ये मर नहीं सकते, क्योंकि दूसरों के लिये द्वारका अगम्य है। जैसे जिस वन में काटने वाले पहुँच नहीं सकते। उस वन में यदि बाँस बढ़ जाय, तो उनका नाश कैसे हो, क्योंकि जब तक बढ़ी हुई सृष्टि नाश नहीं होती, तब तक उन्नति नहीं होती ऐसे वनों में बाँसों में स्वय ही रगड़ लगकर अग्नि उत्पन्न होती है। वही दावाग्नि समस्त वन को जलाकर भस्म कर देती है, भूमि को लता गुल्मों से रिक्त कर देती है, उसमें फिर नये अकुर उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार मुझे इस यदुकुल के वीरों को आपस में ही लड़ाना है, जब ये आपस में लड़कर मर जायँगे तब पृथ्वी का पूर्ण भार उतर जायगा। तभी मेरे अवतार का प्रयोजन पूर्णरूप से सिद्ध हो जायगा, उसी समय मैं निज धाम को चला जाऊँगा।"

ऐसा निश्चय करके सत्यसङ्कल्प, सर्वसमर्थ, सर्वान्तर्यामी श्रीहरि ने यदुकुल को ब्राह्मणों से शाप दिला दिया, उस विप्रशाप रूपी दावानल में ही सबको स्वाहा करा दिया। यदुकुल का जब संहार हो गया, तब भगवान् स्वधाम पधार गये। सौ वर्ष से अधिक भगवान् इस धराधाम पर विराजे। वह समय संसार के लिये कितना अमूल्य था, उसकी कल्पना मानव बुद्धि के परे की बात है। उन्होंने ऐसी मनोहर मूर्ति धारण की थी कि असंख्यों ब्राह्मणों के सौंदर्य को एक स्थान पर एकत्रित किया जाय और उसकी उत्तम से उत्तम सजीव मूर्ति बनायी जाय, वह भी श्रीकृष्ण मूर्ति के सम्मुख तुच्छातितुच्छ दिखायी देगा। ऐसी मनोहर मूर्ति दिखाकर उन्होंने प्राणियों के नयनों को सफल बनाया। अपनी दिव्य वाणी से अर्जुन, उद्धव आदि परमभक्तों को उपदेश देकर गीता, भागवत जैसे ज्ञानोद्गमों को प्रकट किया। जिनकी धारा

अब तक अखण्ड रूप से प्रवाहित होकर अधिकारीजनों के शुष्क हृदयों को परिप्लावित करती हुई शस्यश्यामला बनाये हुए है। जगत् के एकमात्र स्मरणीय श्रीहरि अपनी मधुर मधुर स्मृति को छोड़ गये, जो स्मरण करने वाले भक्तजनों के चित्तों के लिये एक वशीकरण के समान है। जिन्होंने उनकी मनोहर मूर्ति का, उनके दिव्य गुणों का, सुन्दर सरस लीलाओं का तथा उनके जगन्मङ्गल मनोहर नामों का स्मरण किया, उनका चित्त उसमें फँस गया, लिपट गया, फिर उसका संसार में निकल आना असम्भव है। जिन्होंने उन अखिलेश के चरणारविन्दों का दर्शन कर लिया उसकी अन्य सभी लौकिक क्रियायें रुक गयीं। भगवान् ने अवतार धारण करके एक अति अद्भुत कार्य किया, वे अपनी परम श्रुत मधुर भागवती कथाओं को छोड़ गये। कविजन उनकी कमनीय कीर्ति का कविताओं द्वारा गान करके अपनी-अपनी वाणी को सफल करते हैं, श्रोता उन पुत मधुर चरित्रों को श्रवण करके अपने श्रवणों को सफल करते हैं। इस प्रकार श्रद्धालु श्रोता वक्ता श्रद्धा सहित गाकर सुनकर दोनों ही कृतकृत्य हो जायँगे, इसी प्रकार अपने यश का विस्तार करके, अपने अवतार के प्रयोजन को पूरा करके स्वधाम पधार गये।"

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! आप हमारे प्रश्न को भूल गये क्या? महाभाग! हमने आपसे पूछा था कि यदुकुल को ब्राह्मणों का शाप क्यों हुआ। समदर्शी विप्रों ने भगवान् के कुल वाले यादवों को शाप दिया ही क्यों? ब्राह्मण कुपित होते हैं अविनय से यादवों से ऐसी आशा स्वप्न में भी नहीं की जा सकती। भगवान् उन्हें सदा शिक्षा देते रहते थे। यादव सबके सब ब्राह्मण-भक्त थे। उदार थे, यशस्वी थे, कुलीन थे तथा नित्य गुरुजनों की सेवा करने वाले थे। उनका चित्त सदा सर्वदा श्यामसुन्दर के चरणारविन्दों में ही लगा रहता था ऐसे ब्रह्मण्य

यादवों को विप्रों ने शाप क्यों दिया ? शाप का स्वरूप क्या था, किस बात पर ब्राह्मण क्रुद्ध हुए ? यादवों ने कौन-सी अविनय की ? यादवों का चित्त तो सदा प्रेम में भरा रहता था, वे सबके सब एकचित्त थे, फिर उनमें आपस में कलह क्यों पड़ गयी। क्यों उनमें भेदभाव हो गया। इन सब बातों को कृपा करके हमें सुनाइये।"

यह सुनकर सूतजी बड़े कष्ट के साथ बोले —"मुनियो ! मैं शाप का अन्य कारण क्या बताऊँ, आप यही समझ लें कि यह सब श्यामसुन्दर की इच्छानुसार ही हुआ। दैत्यों का वध करके सुखपूर्वक द्वारकापुरी में निवास करते थे। यादवों को देखते थे, वे सुरापान करके मदोन्मत्त हो जाते और अंट सट बकने लगते। भगवान् ने सोचा—"और सब भूमिका भार उतर गया, किन्तु ये यादव तो भूमिका भार रूप में रह ही गये। जब तक इनका संहार न हो तब तक मेरे अवतार का कृत्य पूर्ण नहीं होता। ऐश्वर्यमद में मदोन्मत्त यादवों को कोई अन्य कितना भी बली राजा क्यों न हो, हरा नहीं सकता।"

भगवान् तो काल स्वरूप हैं, अर्जुन ने जब उनका विराटरूप देखा तो भयभीत हो गया, तब उसने पूछा—"प्रभो ! आप कौन हैं ?" तब भगवान् ने कहा था—"मैं कालरूप हूँ।" अर्जुन ने पूछा—"आप क्यों आये हैं ?" तब भगवान् ने कहा—"मैं लोक का क्षय करने के निमित्त आया हूँ जितने भी ये राजा हैं, इन सबको मैं निगल जाऊँगा और तुझे भी।"

वास्तव में भगवान् जीवों से जीवों को उत्पन्न कराते हैं जो मनुष्य एक जल का बिन्दु बनाने में असमर्थ है, रज का एक नवीन कण नहीं बना सकता, वह इतने लम्बे चौड़े पुरुष को क्या बनावेगा। मनुष्य का यह मिथ्याभिमान है, ये लड़के मेरे हैं इन्हें मैंने उत्पन्न किया है।" तू क्या करेगा रे पगले। करने कराने वाले तो

वे श्रीकृष्ण हैं। इसी प्रकार कोई किसी को मार नहीं सकता। कालरूप कृष्ण ही सबका संहार करते हैं, केवल भूतों को निमित्त बना देते हैं। अमुक रोग से मरा, अस्त्र से, जादू से, विष से, जल से, सर्प से तथा अन्य वस्तु से मरा। जब जिसका उन्हें संहार करना होता है, तब वैसा ही रूप रख लेते हैं। कालरूप भगवान् का जहाँ संकल्प हुआ, तहाँ सब साधन वैसे ही जुट जाते हैं। असंभव-सी लगने वाली बात संभव हो जाती है।

अब भगवान् ने यदुकुल के संहार का संकल्प कर लिया। उनकी लीलाओं में सहायक होने उन्हीं की इच्छा से बहुत से ऋषि मुनि मिलकर द्वारकापुरी में पधारे। उनमें विश्वामित्र, असित, कण्व, दुर्वासा, भृगु, अङ्गिरा, कश्यप, वामदेव, अत्रि, वशिष्ठ और नारद आदि मुख्य थे। इन इतने बड़े बड़े महर्षियों को आते देख भगवान् सिंहासन से उठकर खड़े हो गये, विधिवत् पूजा की सबसे कुशल प्रश्न किया, फिर सुस्वादु भोजन उन्हें कराये।"

भगवान् से सत्कृत होकर जब वे ऋषि मुनि चलने लगे तब भगवान् वासुदेव बोले—"मुनियो ! आप कहाँ से पधारे हैं और यहाँ से कहाँ जाने का विचार कर रहे हैं।"

मुनियों ने कहा—"वासुदेव ! हम तीर्थयात्रा कर रहे हैं। तीर्थयात्रा करते-करते हम द्वारका में आपके दर्शनों के निमित्त आये अब पुष्कर होते हुए हम लोग व्रजमण्डल को जाना चाहते हैं।"

भगवान् ने कहा—"मुनियो ! अब तो आपको कहीं वर्षा के चार महीने एक स्थान पर रहकर चातुर्मास्य व्रत करना होगा, यदि आप सबकी इच्छा हो तो अब के यहीं चातुर्मास्य व्रत करें। आपके यहाँ रहने से कभी कभी हमें भी दर्शन तथा उपदेश का सौभाग्य प्राप्त होता रहेगा।"

ऋषियों ने आपस में सम्मति की। सभी इस ने अनुमोदन किया। सभी द्वारका के समीप ही पिण्डार—

पुण्य क्षेत्र में रहकर चातुर्मास्य करने लगे। सभी ने फूँस की कुटियाये बनालीं वहीं रहते सत्सङ्ग करते। यादव आ आकर सब प्रकार से उनकी सेवा करते।

यादवों के सिरपर तो काल मँडरा रहा था। विनाशकाल में बुद्धि विपरीत बन जाती है। श्रीकृष्ण कृपा से यादवों के पास धन का तो कुछ अभाव था ही नहीं। सम्पूर्ण द्वारकापुरी ही सुवर्ण की बनी हुई थी। धन के मद से वे सब मदोन्मत्त हो गये थे। उनमें सुरापान के व्यसन ने घर कर लिया था। प्रायः सबके सब सुरापी हो गये थे। एक दिन कुछ यादवों के उद्दण्ड कुमार क्रीडा करते करते हँसते खेलते पिण्डारक क्षेत्र में पहुँचे। वहाँ उन्होंने बडी बडी दाढी जटाओं वाले मुनियों को देखा। कोई वेद पाठ कर रहे थे, कोई हवन कर रहे थे, कोई जप करते थे तथा कोई अन्य धार्मिक कृत्य कर रहे थे। ये यदुवंशी कुमार उन सबकी चर्या देखते रहे। जब वे सब एकत्रित होकर कुछ सत्सङ्ग करने लगे, तब इन सबको एक विनोद सूझा। आपस में ये लोग कहने लगे—"ये इतने साधु एक स्थान पर बैठकर माल उडाते रहते हैं, इनमें कुछ सिद्धि भी है, या वैसे ही दिन काटते फिरते हैं। इनकी परीक्षा लेनी चाहिये।"

इस पर एक बोला—"क्या परीक्षा लोगे ?"

यह सुनकर उन सबमें जो एक कुमार अधिक उद्दण्ड था वह बोला—"देखो, यह जो साम्ब है अत्यन्त ही सुकुमार है, इसके अङ्ग प्रत्यङ्ग सभी स्त्रियों के से हैं। इसे स्त्री बनाकर ले चलो और ऋषियों से पूछा जाय कि यह गर्भवती है, इसके लडका होगा या लडकी। इस पर वे या तो लडका कहेंगे या लडकी। तब हम हँसते हँसते साम्ब का मुख खोल देंगे, उनकी हँसी उडावेंगे, बडा आनन्द रहेगा।"

इस पर साम्ब ने कहा—"चलो, हटो। मैं तो स्त्री नहीं बनता। पुरुष के लिये स्त्री वेष बनाना तो बडी अपमान जनक बात है, कोई दूसरी हँसी करो।"

इस पर सब कहने लगे—"न, भैया! यह बहुत सुन्दर रहेगा। स्त्रियों के वस्त्र पहिनने से कोई स्त्री थोड़े ही हो जाता है। तुम्हारी हानि क्या है पहिन लो कपडे।"

जब सबने आग्रह किया, तो साम्ब ने भी स्वीकार कर लिया। सबने मिलकर साम्ब को भली भाँति स्त्री बना दिया। उसके पेट में कपड़े बाँधकर उसे वड़ा बना दिया। सब उसे सजा-बजाकर घूँघट से उसके मुख को ढाँपकर मुनियों के समीप ले चले।",

इस पर शौनकजी ने पूछा—"सूतजी! ये जाम्बवतीनन्दन साम्ब तो बहुत बड़े हो गये होंगे। इनके तो नाती-पोते हो गये होंगे, फिर आप इन्हें अभी कुमार ही क्यों कहते हैं। इस इतने बड़ों को ये लड़कपन की बातें क्यों सूझीं ?"

इस पर सूतजी बोले—"महाराज! राजाओं के लड़के चाहे बूढ़े क्यों न हो जायँ वे सब कुमार ही कहलाते हैं। जो सबसे बड़ा पुत्र होगा, वह तब तक कुमार कहलावेगा, जब तक उसके पिता जीवित रहेंगे। पिता के मरने पर वह तो राजा हो जायगा, शेष सभी कुमार ही के नाम से पुकारे जायँगे, चाहे नाती-पोते कितने भी हो जायँ। इसीलिये ये सबके सब कुमार कहलाते थे। हाँ, ये सबके सब बड़ी-बड़ी अवस्था के थे ८० ९० वर्ष से तो कोई कम ही न होगा, किन्तु महाराज! जब तक माता-पिता जीवित रहते हैं, तब तक पुत्र चाहे, कितना भी बडा क्यों न हो जाय उसमें लड़कपन रहता ही है। गम्भीरता तो तब आती है, जब अपने सिर पर बोझ पड़ता है। जब तक माता पिता बैठे हैं, तब तक निश्चिन्त होकर खेलते खाते रहते हैं। फिर ये सबके सब

भगवान् के वीर्य से उत्पन्न हुए थे इसलिये ये सब जरा, रोग से रहित थे। जैसे भगवान् सदा सोलह वर्ष के-से बने रहे वैसे ही ये सब भी थे। दाढ़ी मूछों ने बढ़कर इनके मुखों को चिड़ियों का जैसा घोंसला नहीं बना दिया था। ये सबके सब नित्य किशोर से लगते थे। साम्ब इतनी अवस्था होने पर भी इतने सुकुमार थे कि जब उन्हें स्त्री का वेप बना दिया, तो कोई पहिचान ही नहीं सकता था कि ये स्त्री नहीं हैं। स्त्रियों की-सी इनकी मधुर मीठी पैनी वाणी थी, वैसे ही पतली-पतली लाल-लाल उंगलियाँ थीं। पैर भी कोमल और मृदुल थे। स्त्री वेप उनके सर्वथा अनुरूप बैठ गया।

शौनकजी ने कहा—"हाँ, तो सूतजी! फिर क्या हुआ? आगे की कथा सुनाइये।"

सूतजी बोले—"हुआ क्या महाराज, वे महाकाल द्वारा प्रेरित राजकुमार अपनी हँसी रोककर बनावटी नम्रता धारण करके स्त्री बने साम्ब को आगे करके मुनियों के निकट पहुँचे। उन सबने दूर से ही लम्बी डंडौत झुकायी। फिर समीप जाकर सबने मुनियों के चरण छूए। वह स्त्री वेपधारी साम्ब स्त्रियों की भाँति लजाता हुआ घूँघट में से एक आँख से ऋषियों को देखता हुआ प्रणाम करके जहाँ उन छोकरों ने बैठाया था, वहाँ बैठ गया।

अब उनमें से जो अधिक चञ्चल, चपल, उद्दण्ड और बातें बनाने में चतुर था वह बनावटी गम्भीरता के साथ नम्रतापूर्वक बोला—"हे मुनिगण! यह एक कुलीन वंश की महिला है। हमारे ही वंश की यह पत्नी है। यह श्यामलोचना सुन्दरी सुकुमारी कुछ पूछना चाहती है।"

इस पर दुर्वासा मुनि बोल उठे—"हाँ, पूछे क्या पूछना चाहती है?"

इस पर वही उद्दण्ड कुमार बोला—"अब महाराज! यह कैसे पूछें, अभी तो कलियुग लगा ही है। कुछ अंश द्वापर का है।

कलियुगी कुलीन स्त्रियाँ बिना संकोच के पुरुषों से सब के सम्मुख बातें करेंगी। अभी तो इसका इतना साहस है नहीं। यह स्वयं

पूछने मे सकुचाती है, हमारे ही द्वारा प्रश्न पुछवाती है।"

दुर्वासा मुनि बोले—"अच्छा, तुम ही पूछो। क्या इसका प्रश्न है ?"

यह सुनकर वही कुमार बोला —"महाराज ! यह गर्भवती है, अभी शीघ्र ही १० । ५ दिन में इसका प्रसव होने वाला है, यह चाहती है मेरे पुत्र हो। आप लोग तो त्रिकालज्ञ हैं और अमोघ-दर्शन हैं। यह बतावें कि इसके पुत्र होगा या पुत्री ? कब प्रसव होगा ?"

यह सुनकर जितने कुमार थे, सभी को हँसी आ गयी, वे मुँह फेरकर हँसने लगे। बनावटी बात को तो कोई व्यवहार पटु पुरुष भी समझ सकता है, सो वे सर्वज्ञ मुनि थे। कुमारों की धूर्तता को वे समझ गये, उन्हें उनकी इस धृष्टता पर क्रोध आ गया। भवितव्यता की प्रेरणा थी, भगवान् की इच्छा थी, विधि का ऐसा ही विधान था। जितेन्द्रिय और व्रतपरायण मुनियों को भी क्षोभ हुआ वे सोचने लगे—"भगवान श्रीकृष्ण के पुत्र पौत्र होकर भी ये इतने धृष्ट और अविनीत हैं, इन्हें इनकी अविनय का फल चखाना चाहिए। भावीवश सभी ऋषियों के मन में यही बात बैठ गयी। दुर्वासा मुनि तो क्रोध की मूर्ति ही थे। वे सूखी हँसी हँसते हुए कहने लगे—"बेटाओ ! यह घूँघट वाली बहू न बेटा जनेगी न बेटा। ऐसी वस्तु जनेगी, जिससे तुम्हारे सम्पूर्ण कुल का नाश होगा। अरे, धूर्तो ! जिस छोकरे को तुमने छोकरी बना रखा है, उसी के पेट से ऐसा मूसल निकलेगा कि उसी से तुम सबके सब इस लोक की लीला समाप्त कर जाओगे।"

महामुनि दुर्वासा के शाप का सभी ने साधु-साधु कहकर अनुमोदन किया। यदुकुमार हँसी विनोद सब भूल गये। उनके मुख फक पड़ गये। वे सबके सब मारे डरके थर-थर काँपने लगे। किसी का भी साहस न हुआ कि मुनियों से कुछ कह सकें वे तुरन्त

वहाँ से चल दिये। दूर आकर उन सबने स्त्री बने हुए साम्ब के पेट को खोला, सबने आश्चर्य के साथ देखा कि सचमुच उन कपड़ा से एक लोहे का मूसल निकला है। उसे देखकर तो उनका धर्य छूट गया। एक दूसरे के मुख को देखने लगे। सब आपस में अपने को धिक्कारने लगे—'हाय! हम लोगों को कैसी कुबुद्धि उत्पन्न हो गया। हम मन्दभागियों ने इन सर्वज्ञ मुनियों से ऐसा अनुचित हँसी क्यों की? इस बात को बलदेवजी या हमारे पिता सुनेंगे तो हमें क्या कहेंगे, सभी लोग हम धिक्कारेंगे। हम हो अपने सम्पूर्ण कुल के विनाश के कारण बन गये।'

इस पर एक ने डरते-डरते कहा "इस मूसल को कहीं भूमि में गाढ़ दो और चुपचाप चले चलो इस बात को किसी से कहो ही मत।" इस पर एक ने कहा—"भया! यह बात छिप नहीं सकती मुनियों का वचन अमोघ है, वह अन्यथा हो नहीं सकता। अतः इस लेचलकर महाराज उग्रसेन के सम्मुख रख दो। व राजा हैं, इसका कुछ न कुछ प्रतिकार करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इस बात का सभी ने समर्थन किया। सब उसे महाराज उग्रसेन के समीप लेकर चले। अब महाराज उग्रसेन जिस प्रकार इसका प्रतिकार करेंगे उसे [illegible] में आगे कहूँगा।"

छप्पय

शौनक पूछें—'सूत! शाप [illegible] [illegible]।
क्यों हरिने संहार स्वय निज [illegible] [illegible]।
सूत कहें—'नत [illegible] [illegible]।
पिंडारक महँ [illegible]।
नारि वप [illegible]।
रहे [illegible]

विप्रशाप का व्यर्थ प्रतीकार

[११६७]

भगवाञ्ज्ञातसर्वार्थ ईश्वरोऽपि तदन्यथा।
कर्तुं नैच्छद् विप्रशापं कालरूप्यन्वमोदत ॥*

(श्री भा० ११ स्क० १ अ० २४श्लोक)

छप्पय

द्विजनि शाप सुनि कुमर भये अति दुखित डराये।
साम्ब उदर तैं मुसल भयो लखि सब घबराये॥
थर थर काँपत आइ नृपहिँ सब वृत्त बतायो।
उग्रसेन सुनि सकल मुसल तुरतहिँ रितवायो॥
चूरौ अरु लोहो बच्यो, फेंक्यो सागर महँ जबहिँ।
चूरौ बहि तट पै लग्यो, भये एरका तृन तबहिँ॥

मृत्यु को मन्त्र, औषधि, जप तप तथा कोई भी कर्म रोक नहीं सकते। महाकाल के सम्मुख किसी की कुछ चलती नहीं। वे जो करना चाहते हैं, वह होकर रहता है। पुरुष मृत्यु से बचने के

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् भगवान् वासुदेव सब कुछ जानते थे, तो भी उन्होंने उस विप्रशाप को व्यर्थ करने में समर्थ होने पर भी उसे अन्यथा करने की इच्छा नहीं की! यही नहीं उन काल-रूप कृष्ण ने उसका अनुमोदन ही किया।"

अनेक उपाय करता है, किन्तु काल के सम्मुख वे सब व्यर्थ बन जाते हैं। समुद्र में सहस्रों हाथ नीचे जल में जन्तु रहते हैं, काल वहाँ भी पहुँच कर उन्हें खोजकर निकाल लाता है। आकाश में निराधार रहने वाले भी जन्तु हैं। सुना गया है कि एक पक्षी निरन्तर आकाश में ही रहता है, वहाँ रहकर ही वह अन्डा देता है, अन्डा ऊपर से नीचे आते-आते फूट जाता है। जहाँ अन्डा फूटा कि उसमें से बच्चा निकलते ही ऊपर उडने लगता है, पृथ्वी का स्पर्श वह भूलकर भी नहीं करता, उडकर अपनी माँ के पास रहने लगता है। ऐसे पक्षी को भी काल अपना कवल बना लेता है, वह भी एक दिन मर जाता है। इतना सब जानते हुए भी मन मानता नहीं। मृत्यु का निश्चित कारण ज्ञात होने पर भी प्राणी उससे बचने का प्रयत्न करता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब साम्ब के उदर से लौहमय मूसल निकला और उसके कारण यादवकुमार अत्यन्त चिन्तित हुए तब सभी सम्मति करके महाराज उग्रसेन के समीप चले। वे सब डर रहे थे कि हमारी अविनय की बात भगवान् को विदित न हो जाय। सबके सब यदुकुमार भगवान कृष्ण से अत्यधिक डरते थे। उग्रसेन के सम्मुख तो वे बालकों की भाँति हठ भी कर लेते थे। बूढ़े होने से उग्रसेन महाराज सभी को प्यार करते थे, अतः उनसे कुमारों को उतना सकोच नहीं था। इसलिये वे एकान्त में महाराज के महलों में गये। महाराज अपने अन्तःपुर में बैठे थे, वे शयन की तैयारियाँ कर रहे थे, तभी तक ये कई कुमार चुपके से चोर की भाँति गये। जाकर उन सबने महाराज को प्रणाम किया, उनके चरण छुये और बैठ गये।"

असमय में कुमारों को अपने घर में आये देखकर उग्रसेनजी कुछ विस्मित हुए। उन्होंने बडे स्नेह से पूछा—"कहो, भैया! अच्छे हो न तुम सब लोग? तुम सबका मुख मलीन क्यों हो रहा

है, तुम सब घबराये हुए से प्रतीत होते हो ? द्वारका में कोई दुर्घटना तो घटित नहीं हो गयी। किसी शत्रु ने तो हमारे नगर पर चढ़ाई नहीं कर दी ?"

यादव कुमारों में से एक बोला—"नहीं, महाराज ऐसी कोई बात नहीं। चारों ओर समुद्र से घिरी, सब रक्षा साधनों से सम्पन्न इस नगरी पर चढ़ाई करने का साहस ही किसका हो सकता है। फिर भी एक बड़ी ही अशुभ घटना घटित हो गयी।"

चौंककर महाराज उग्रसेन ने कहा—"वह क्या अशुभ घटना हुई। मङ्गल स्वरूप माधव के विराजमान् रहते कौन सी अमङ्गलमयी घटना घटित हो सकती है ! मुझे शीघ्र बताओ क्या बात है ?"

सबकी ओर देखकर वही कुमार बोला—"महाराज ! हम वैसे नहीं बतावेंगे। बड़ी ही अशुभ सूचना है। आप दो वचन दें तब हम बतावेंगे।"

महाराज उग्रसेन ने व्यग्रता के साथ कहा—"कहो, कहो, क्या अशुभ सूचना है। मैंने तुम्हें दो वचन दिये। बोलो क्या चाहते हो ?"

यादव कुमारों ने कहा—"महाराज ! पहिला वचन तो हम यह चाहते हैं कि हमारा अक्षम्य अपराध क्षमा कर दिया जाय और दूसरी बात यह है कि यह बात भगवान् के कानों में न पहुँचने पावे।" ये दो वचन आप हमें दें, तो हम सब वृत्तान्त बतावें।"

उग्रसेनजी ने कहा—"अच्छा, दिये। अब शीघ्र बताओ क्या बात है ?"

कुमारों में से एक ने कहा—"हमने मूर्खतावश साम्ब को स्त्री बनाकर मुनियों के समीप जाकर पूछा कि यह लड़का जनेगी या लड़की ?"

इस पर उन सबने सम्मति करके हम सबको घोर शाप दे

हुए कहा—"अरे, मतिमन्दो ! इसके न लडका होगा न लडकी, इसके उदर से एक यादव कुल का नाश करने वाला लोहमय मुसल उत्पन्न होगा। उसी के कारण तुम्हारे राम–कृष्ण दो को छोडकर प्रायः सभी का विनाश हो जायगा।" महाराज ! इस दारुण शाप को सुनकर हम सब तो डर गये। कपड़े बाँधकर जो हमने साम्ब का पेट फुला रखा था, उसे ज्यो ही खोला, त्यों ही यह मुसल निकल आया। उसे लेकर हम आपके समीप चले आये। आप इसका कुछ प्रतिकार कर सकते हों, तो करें, किन्तु भगवान् के सम्मुख हमारी अविनय की बात न बतावें। इतना कहकर और उस मुसल को आगे रखकर यादवकुमार चुप हो गये।

उग्रसेनजी ने उस भयकर भीषण मुसल को देखा। उनके तो उसे देखते ही प्राण सूख गये। वे बडी देर तक सोचते रहे अन्त में एक कुमार से बोले—"तुम अभी ही जाकर अमुक लुहार को बुला लाओ। उसे मेरी आज्ञा सुनाना और कहना—रेती लेकर अभी मेरे साथ चलो।" जो आज्ञा कहकर वह कुमार तुरन्त चल दिया। कुछ ही काल मे वह लुहार को लेकर आ गया। उसने महाराज की जय-जयकार की और प्रणाम करके खडा हो गया।

महाराज ने उससे कहा—'देखो, भाई यह लोहे का मुसल है, इसे यहीं हमारे सम्मुख बैठकर रेत रेतकर इसका चूरा बना दो।"

उसने कहा—"जैसी महाराज की आज्ञा।" यह कहकर वह वहीं बैठ गया। उसने पूरा बल लगाकर रेतना आरभ किया, ज्यो-ज्यो उसका चूरा होता जाता था त्यो-त्यों यादवकुमारों को सन्तोष होता जाता था। आधी रात बातते उस लुहार ने पूरे मुसल को रेत-कर चूर्ण बना दिया। एक टुकडा शेष रह गया, जिस पर रेती चलती ही नहीं थी, वह किसी प्रकार रेता ही नहीं जा सकता था। कितने भी बड़े लोहे को रेतो एक टुकडा बच ही जायगा। जब

किसी भी युक्ति से वह टुकड़ा न रेता जा सका, तो उग्रसेनजी ने कहा—"कोई बात नहीं, इतना छोटा टुकड़ा क्या करेगा, जब यह रेता ही नहीं जा सकता तो इसे छोड़ दो।" लुहार ने छोड दिया। महाराज ने उस लुहार को प्रसन्न होकर बहुत-सा धन पारितोषिक रूप में दिया। वह उसे लेकर और यदुराज का जय-जयकार करता हुआ चला गया।

लुहार के चले जाने के अनन्तर महाराज उग्रसेन ने कहा—"देखो, इस चूर्ण को और इस लोहे के टुकड़े को बड़ी सावधानी से ले जाओ। इसका एक कण भी भूमि पर न गिरने पावे। नौका में बैठकर बीच समुद्र में दूर जाकर इसे छोड़ आओ। अब यह हमारा क्या अनर्थ कर सकता है।"

यह सुनकर सब-के-सब राजकुमार समुद्र तट पर आये। एक मछली पकड़ने वाले की नौका ली और घोर रात्रि में उस पर चढ़ कर दूर चले गये। बहुत दूर जाकर समुद्र के बीच में छोड़कर वे सब-के-सब प्रसन्न थे और सोच रहे थे—"हमने अपने पुरुषार्थ से ब्राह्मणों के शाप को भी अन्यथा कर दिया। अब तो मुसल का नाम भी नहीं रहा। समुद्र के गर्भ में चला गया। अब हमारा क्या कर लेगा।" ऐसा सन्तोष करके वे द्वारकापुरी में चले आये और अपने-अपने घरों में आकर सुखपूर्वक सोने लगे।

अब उस चूरे का इतिहास भी सुनिये। उन कुमारों ने ज्यों ही उस लौह चूर्ण को तथा उस अवशिष्ट टुकड़े को जल में फेंका, त्यों ही वह लोहे का भारी टुकड़ा तो जल के भीतर चला गया, किन्तु लौह चूर्ण जल के ऊपर ही तैरता रहा। वह टुकड़ा जब जल के भीतर जा रहा था, तो एक बड़ा भारी मत्स्य वहाँ बैठा था, उसने समझा यह कोई खाने की वस्तु है, अतः उसे वह निगल गया, उसके पेट में वह लोहा चला गया। लोहे का चूरा समुद्र की तरंगों के साथ बहते-बहते प्रभास क्षेत्र के समीप समुद्र तट पर लग गया।

समुद्र तट पर जमा हो गया। समुद्र वहाँ से हट गया, उसी चूर्ण कणों से वहाँ एरका (सरपत) का बड़ा भारी वन हो गया।

इधर समुद्र में मछुआ जाल डालकर मछली पकड़ रहे थे, बहुत-सी मछलियाँ उनके जाल मे आकर फँसी, उनके साथ वह बड़ा मत्स्य भी फँस गया, जिसने उस अवशिष्ट मुसल की कीलको निगल लिया था। मछुए उन सब मछलियों को ले गये। उस बड़े मत्स्य को देखकर सब बड़े प्रसन्न हुए। सभी ने मिलकर उसके पेट को चीरा। पेट को चीरकर उसके पखो को नोंच-नोंच कर फेंक रहे थे, उसी समय वह कील निकली। सभी बड़े कौतूहल के साथ देखने लगे—"यह क्या है, यह क्या है ?" सबने ध्यान पूर्वक देखा, तो समझ गये लोहे की कील है, भूल से मछली निगल गयी होगी।

वहीं पर एक जरा नाम का व्याध भी बैठा था। उसका काम था, जगली जीवों को मारना। उसने जब उस लोहे की कील को देखा, तो मछुओ से कहा—"भैया ! इस कील को तो मुझे दे दो। यह बड़ी चमकीली है और बहुत कड़ी है। इसे तो मैं अपने बाण की नोक मे लगाऊँगा। इससे शीघ्र ही हिरण मर जाया करेंगे।"

मछुओ को इसमें क्या आपत्ति थी। उन्हें तो उस कील को फेंकना ही था। सबने सहर्ष उस जरा व्याध को वह कील दे दी। वह उसे पाकर परम प्रसन्न हुआ। अपने बाण की नोक पर उसने उस नुकीली कील को बड़ी सावधानी से जड़ लिया और उसे देखकर वह प्रसन्न हुआ। इसी बाण को जरा व्याध भगवान् के श्रीचरणों मे मारेगा। भगवान् अपने आप सब विधान बना लेते हैं।"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी ! सर्वज्ञ भगवान् तो सब जान ही गये होंगे, उन्होंने इस विप्रशाप को अन्यथा क्यों नहीं कर दिया। वे तो सर्व समर्थ हैं, विप्रों के शाप को बदलना

तुच्छाति तुच्छ बात है, वे तो निमेष भर में समस्त विश्वब्रह्माण्ड को बदल सकते हैं ?"

सूतजी ने कहा—"महाराज ! बदल क्यों नहीं सकते थे। भगवान् तो सब ही कुछ कर सकते हैं, किन्तु यह सब तो भगवान् की इच्छा से ही हो रहा था। विप्र तो भगवान् की लीलाओं में सहायक ही थे, उन्होंने भगवान् की प्रेरणा से ही शाप दिया। इसलिये समर्थ होते हुए भी सर्वज्ञ भगवान् ने उसे अन्यथा करने की इच्छा नहीं की। प्रत्युत उनके शाप का अनुमोदन ही किया। अब यदुकुल विनाश के सब साधन एकत्रित हो गये। यादवों के सिर पर काल मँड़राने लगा। भयंकर रूप रखकर महाकाल छिपकर यादवों के घर में चक्कर लगाने लगा। कोई-कोई विवेकी पुरुष उसे प्रत्यक्ष देखते भी थे, किन्तु सर्वसाधारण यादव तो धन के मद में मत्त हुए विषयों का भोग करने लगे। वे यथेष्ट सुरापान करते थे। शाप की बात सुनकर उग्रसेन का भी हृदय धक्-धक् करने लगा था, अतः उन्होंने रक्षा के और भी प्रबन्ध किये। एक विशेष नियम बनवा दिया कि द्वारका में कोई सुरापान नहीं कर सकता। इससे द्वारका में सुरा का आना ही बंद हो गया। सब लोग सावधान रहने लगे, किन्तु काल के सम्मुख किसकी चलती है।

भगवान् वासुदेव का दो व्यक्तियों पर विशेष अनुराग था, एक तो अपने पिता वसुदेवजी के ऊपर और दूसरे अपने सखा उद्धव के ऊपर। अतः अन्तिम समय में दोनों को ही तत्वज्ञान का उपदेश दिया। अपने पिता वसुदेवजी को तो वे स्वयं उपदेश कैसे दे सकते थे। यह बात लोक मर्यादा के विरुद्ध थी, अतः उन्हें तो देवर्षि नारदजी से उपदेश दिलाया और उद्धवजी को स्वयं अन्तिम समय में उपदेश दिया, जो 'उद्धवगीता' के नाम से संसार में प्रसिद्ध है। दोनों ही भगवान् की कृपा से इस तत्वज्ञान पूर्ण उपदेशों को

पाकर कृतार्थ हो गये। दोनों ही परम पद के अधिकारी हो गये। अधिकारी क्या हो गये, ये तो प्रभु के नित्य पार्षद ही थे, इनके द्वारा लोक का कल्याण कराया।"

इस पर शौनकजी ने कहा—"सूतजी! वसुदेव नारद सम्वाद को तथा उद्धवजी और भगवान् के सम्वाद को कृपा करके हमें भी सुनाइये। महाभाग! इस यदुकुल की संहार लीला के स्मरण से तो अभी से हमारे रोमाञ्च हो रहे हैं। कृपा करके हमें नारद गीता और उद्धव गीता को सुनावें।"

सूतजी बोले—"अच्छी बात है महाराज! मैं आपको इन दोनों परम पुण्यप्रद सम्वादों को प्रथम सुनाऊँगा, तदनन्तर यदुकुल संहार की दुःखद कथा सुनाऊँगा। अब आप सर्वप्रथम वसुदेव और नारदजी के ही सम्वाद को श्रद्धा सहित श्रवण करें। नारदजी तो भगवान् के मन हैं, वे जो कहेंगे भगवान् की इच्छा से ही कहेंगे। यह 'कथा' कुछ अधिक गूढ़ है, अतः इसे अत्यन्त समाहित चित्त से श्रवण करने की आवश्यकता है।"

छप्पय

जो लोहे की कील बची सो सफरी खाई।
उदरि फारि सो जरा व्याध सर नोंक लगाई॥
यदुकुल को संहार साज सबरो ई साज्यो।
महाकाल को कठिन क्रूर अब घंटा बाज्यो॥
सखा और निज जनक कूँ, तत्वज्ञान अन्तिम दयो।
नारद मुनि वसुदेव तैं, उद्धव तैं आपुहिं कह्यो॥

वसुदेव नारद सम्वादारम्भ

[११६८]

गोविन्दभुजगुप्तायां द्वारवत्यां कुरूद्वह।
अवात्सीन्नारदोऽभीक्ष्णं कृष्णोपासनलालसः॥
तमेकदा तु देवर्षिं वसुदेवो गृहागतम्।
अर्चितं सुखमासीनमभिवाद्येदमब्रवीत्॥❀
(श्रीभा० ११ स्क० २ अ० १, ३ श्लो०)

छप्पय

अब नारद वसुदेव सुनहु सम्वाद प्रथम मुनि।
भजे मोह भ्रम सकल सरल उपदेश सुखद सुनि॥
एक दिवस वसुदेव भवन नारद मुनि आये।
सब विधि करि सत्कार मृदुल आसन बैठाये॥
बोले श्रीवसुदेवजी, मुनिवर! अब हम का करें।
देहु सुगम उपदेशवर; अनायास जग तैं तरें॥

भगवान् के दर्शन होने पर भी जब तक तत्वज्ञान का निर्णय नहीं हो जाता, तब तक भ्रम बना ही रहता है, इसलिये आचार्यों ने भागवत धर्म के प्रचार पर बड़ा बल दिया है। जब तक

❀ श्रीशुकदेवजी कहते हैं—"हे कुरुकुलनन्दन राजन्! भगवान् श्यामसुन्दर की भुजाओं से सुरक्षित द्वारावती पुरी में श्रीकृष्ण उपासना की लालसा से देवर्षिनारदजी प्रायः निरन्तर ही बने रहते थे। एक समय वसुदेवजी ने देखा देवर्षि नारदजी अपने घर पर पधारे हुए हैं, तो उनकी विधिवत् पूजा की जब वे सुखपूर्वक आसन पर बैठ गये, तो उन्हें प्रणाम करके ये कहने लगे।"

भागवत धर्मों का बाध नहीं होता, तब तक ससार बन्धन छूटता नहीं। परमपद की प्राप्ति, बिना तीव्रतर साधना के होती नहीं। लोग ससारी कामों को आजीविका उपार्जन उदरपूर्ति आदि को ही बहुत कठिन बताते हैं, किन्तु यह परमार्थ का पथ उससे भी कठिन है। अत्यत तीक्ष्ण छुरों की धार के ऊपर से चलना होता है। किसी को भी विना उग्र साधना किये सिद्धि की प्राप्ति नहीं हुई। साक्षात् ज्ञानावतार भगवान् कपिल की माता देवहूति को कितनी उग्र तपस्या करनी पडी, तब सिद्धि प्राप्त हुई। ध्रुव आदि कुछ दो चार ऐसे उदाहरण हैं, जिन्हे अल्पकाल में ही सिद्धि प्राप्त हो गयी, तो ये कोई उदाहरण नहीं। ये तो अपवाद हैं। जैसे धन, व्यापार आदि से ही प्राप्त होता है, किसी का पिता मर गया, उसे सहसा करोड दो, करोड मिल गये। अथवा द्यूत में सहसा विपुल धन मिल गया, तो यह इस जन्म की कमायी नहीं है। पूर्व जन्मों का सचित धन है। जैसे पेट तो तभी भरेगा, जब भोजन बनेगा। किसी के यहाँ कल का वासी बना हुआ रखा है, वह उसे खाकर पेट भर ले तो इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि उनका विना बनाये पेट भर गया। आज नहीं बनाया कल बनाया था, श्रम तो हुआ ही। ध्रुवजी को इस जन्म मे छै महीने में ही सिद्धि मिल गयी, किन्तु पूर्व जन्मा में उन्हाने कितनी घोर तपस्या की थी, इसे कोई नहीं सोचता। कहना चाहिये उग्र साधनो द्वारा वे सिद्ध पहिले ही हो चुके थे, केवल छे महीने की कमी रह गयी थी, उसकी पूर्ति इस जन्म मे की। सुन्दर-सुन्दर कपडे पहिन लेना, समय पर उत्तम से उत्तम पदार्थ बनाकर खा लेना, ससार मे पद प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेना, मृदुल गुदगुदी शय्या पर सुखपूर्वक सोकर समय को विता देना, इन कामों से भगवान् मिलते होते तो ये धनिक सभी परम अधिकारी बन जाते। जब तक अपना सर्वस्व भगवद्

किया जाय, जब तक विशुद्ध अन्तःकरण से भागवत धर्मों का पालन न किया जाय, तब तक परमपद की प्राप्ति नहीं होती। मन विषयों को जुटाने में लगा रहे ऊपर से तिलक छापे लगाकर लोगों से मान बड़ाई लूटने के लिये भगतजी बने रहें, तो यह एक दम्भ है। ऐसे दम्भी के सम्मुख भगवान् भी आ जायँ तो उनसे भी वह बातें न करेगा।"

एक बार नारदजी ने भगवान् से कहा—"प्रभो ! अमुक सेठजी बड़ा दान करते हैं, उन्हें आप दर्शन दें। उन्होंने बहुत धर्मशालायें बनवा दी हैं। क्षेत्र लगाये हैं। उन्हें आप दर्शन दें।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"उसने अपने घर से थोड़े ही लगाए हैं। व्यापारियों से धर्मादे का द्रव्य पृथक् काटता है, उसी से यह बनवाता है।"

नारदजी ने कहा—"कैसे भी सही महाराज ! कर तो पुण्य ही रहा है।"

भगवान् ने कहा—"पुण्य कर रहा है, तो उसका नाम हो रहा है, कुछ मेरे लिये थोड़े ही कर रहा है, नाम के लिये कर रहा है, नाम उसका हो रहा है।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! दान कैसे भी दिया जाय, उसका फल शुभ ही होगा। श्रद्धा से दे, अश्रद्धा से दे, प्रतिष्ठा के लिये दे, नाम के लिये दे। दान तो व्यर्थ होता नहीं।"

भगवान् ने कहा—"मैं व्यर्थ कब बताता हूँ, जितना वह पुण्य कर रहा है, उतना उसे स्वर्ग सुख मिल जायगा। मेरे दर्शनों की क्या आवश्यकता है।"

यह सुनकर नारदजी ने रोप मे भर कर कहा—"महाराज ! अब आप भी व्यापारियों की-सी बातें करने लगे। जब उसे उसके पुण्यों का फल तराजू मे तौलकर उतना ही मिल जायगा, तो आपकी कृपा का क्या अर्थ हुआ। आप तो कृपासिन्धु हैं,

उस पर कृपा करो। शुभ कार्य कर रहा है उसे दर्शन दो।"

भगवान् ने हँसकर कहा—"भाई, कृपा भी तो उसी पर की जाती है, जो कृपा चाहता हो, वह तो धन चाहता है, मान चाहता है, वह मैं उसे दे रहा हूँ।"

नारदजी ने कहा—"हाँ, महाराज! यही तो मैं कहता हूँ, धन मान वह चाहता है, उसके लिये वह प्रयत्न करता है, आप उसे देते हैं, इसमें आपकी क्या विशेषता? यह तो संसारी व्यापारी भी करता है। धन मान से बढ़कर आपके दर्शन हैं। धन मान तो आप उसे उसके पुण्यकर्मों के बदले में देते हैं। दर्शन कृपा करके दें। अपने कृपालु नाम को सार्थक करें। फल वेचने वाली फल वेचने आप के द्वार पर आयी थी, आपने उस पर अपनी असीम कृपा दिखायी। आपने उससे फल लिये, बदले में अनाज दिया यह तो व्यवहार हुआ। अनाज को रत्न मणि माणिक्य कर दिया, यह आपकी उदारता हुई, ऐसे ही इस सेठ पर कृपा करो।"

भगवान् ने कहा—"अरे, भाई नारद! तुम मेरे पीछे क्यों पड़े हो। वह मालिन तो न जाने कब से मेरी कृपा की भूखी थी, फल बेचना तो उसका उपलक्षण मात्र था। वह इसी के द्वारा मेरे दर्शन चाहती थी। फल वेचना उसका ध्येय नहीं था, ध्येय तो मुझसे प्यार करना था। मुझसे प्रेम करने ही वह मेरे द्वार पर चील की भाँति मड़राती रहती थी। बिना बुलाए मेरे यहाँ आ जाती, घन्टों मेरी प्रतीक्षा मे बैठी रहती। मैं उससे बोलता भी नहीं था, निठुर बना रहता था, फिर भी उसने मेरा पीछा नहीं छोड़ा। वह कुछ नहीं चाहती थी, उसकी इच्छा थी मैं उसके हाथ से फल ग्रहण कर लूँ। वह मेरे स्पर्श की भूखी थी। मैंने उस पर कृपा की, फल के बदले में फल दिया और स्पर्श की इच्छा रखने वाली का स्पर्श किया और कृपा चाहने के कारण

कृपा की। इस सेठ को मेरा तो कभी ध्यान ही नहीं आता सदा हा। टका ! हा। टका ! करता रहता है।"

नारदजी ने कहा—"वह तो अज्ञानी है, उसे आपका ध्यान न आवे, किन्तु आपको तो उसका ध्यान आना चाहिये।"

भगवान् ने कहा—"भाई ! मुझे क्यों नहीं है उसका ध्यान। उसका ध्यान मुझे न होता तो तुम जैसे मेरे अनन्य भक्त को उसके ऊपर दया ही क्यों आती। उसके लिये मुझसे आग्रह ही क्यों करते, किन्तु अभी वह मेरे दर्शनों का अधिकारी नहीं है। मैं जाऊँगा भी तो वह मेरा दर्शन न करेगा। जिसका कंठ तक पेट भरा है, अजीर्ण हो रहा है, उसके सामने कितनी भी सुन्दर वस्तु रख दो वह उसकी इच्छा न करेगा।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! चलो तो सही।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा चलो भैया !" यह कहकर भगवान् वृद्ध ब्राह्मण का रूप रखकर उसके द्वार पर पहुँचे। द्वारपाल से कहा—"सेठजी से कह दो, एक ब्राह्मण आपसे मिलने आया है।"

द्वारपाल ने जाकर कहा। सेठजी सुनते ही बड़े बिगड़े। मुझे इतना समय कहाँ है, जो सबसे मिलता रहूँ। बाहर मुनीमजी नहीं हैं ? कह दो वह भोजन करे तो भोजन करा दें। कुछ कपड़ा माँगे कपड़ा दिला दो। रुपया अधेली देकर उसे टरकाओ।"

द्वारपाल ने मुनीमजी से कहा। मुनीमजी ने दश झूठी सच्ची बातें बनाकर ब्राह्मण को विदा किया। भगवान् ने नारदजी से कहा—"देखा, आपने ? मैं तो पहले ही कह रहा था, अभी उसे मेरे दर्शनों की जिज्ञासा नहीं हुई।"

नादरजी ने कहा—"महाराज ! आपने भी तो ऐसा वेष बनाया कि वह मिलना भी चाहे तो न मिले। भगवन् ! यह ब्राह्मण का वेष माँगने के लिये प्रसिद्ध है। ब्राह्मण को देखते ही सब समझ

जायँगे, कुछ माँगने आया है। ब्राह्मण न भी माँगे तो लोग उसकी बातों पर संदेह करेंगे। सोचेंगे—"चाहे यह अभी कुछ नहीं माँग रहा है, किन्तु आगे माँगने के लिए क्षेत्र तैयार कर रहा है। यह बिना माँगे रहेगा नहीं।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, ब्राह्मण का वेष तो माँगने के लिये प्रसिद्ध है, त्यागी का वेष बनावें। त्यागी को देखकर धनी बड़े प्रभावित होते हैं।"

नारदजी ने कहा—"अच्छी बात है, महाराज! त्यागी ही बनकर चलो।"

अबके भगवान् त्यागी बने एक केले की लँगोटी लगायी, नारदजी को चेला बनाया सेठजी के द्वार पर बैठ गये। न कुछ खाना न पीना। धूनी रमाकर अलख जगाने लगे। लोगों ने कहा—"सेठजी बड़े त्यागी महात्मा आये हैं। आपके द्वार पर बैठे हैं कुछ भी खाते पीते नहीं हैं।"

सेठजी ने कहा—"अरे, तुम लोगो को इतना भी ज्ञान नहीं। त्यागी होगा तो सेठजी के द्वार पर धूनी क्यों रमावेगा? कहीं गङ्गा किनारे शान्त एकान्त वन में रहेगा कोई ढोंगी होगा। जाकर वह जो माँगे दे दो।"

बात यह थी कि पहिले एक त्यागी महात्मा आये थे। वे एक लँगोटी मात्र रखते थे। एक चिलम और [illegible]। जहाँ जाते तमाखू रखकर चिलम पीते, चिलम को औंधा कर [illegible] देते पीछे लोग उस राख को उठाते तो मिट्टी के [illegible] के स्थान में से उसमें से सुवर्ण की गिन्नी निकलती। [illegible] गाँवों मे घूमे। एक ने दूसरे से कहा, दूसरे ने तीसरे से, [illegible] उस गाँव वाले कहें हमारे यहाँ भी ऐसा हुआ, वे कहें यहाँ भी ऐसा हुआ। अब तो महात्मा की [illegible] आग्रहपूर्वक उन्हें अपने घर में बुलाने लगे।

सेठजी को भी मिला। किसी भाँति खुजवाकर वे महात्मा उन्होंने भी बुलवाये। पाँच दिन महात्मा रहे, नित्य उनकी चिलम के चुगुल में एक गिन्नी निकले। लाभ से तो लोभ बढ़ता ही है। सेठजी महात्मा की बहुत सेवा करने लगे, बड़ी सेवा करने लगे। महात्मा ने देखा सेठजी को मेरे ऊपर पूरा विश्वास है, तो उन्होंने एक दिन कहा—"सेठजी! हम आपको एक बात बतावें, किसी से कहोगे तो नहीं।"

सेठजी ने कहा—"नहीं महाराज! जब आप मना कर रहे हैं, तो मैं क्यों किसी से कहूँगा।"

साधु बोले—"देखिये, बात चार कानों मे ही गुप्त रह सकती है। जहाँ चार से छे कानों में हुई, वहाँ फैल जाती है, इसलिये अपनी स्त्री से, पुत्र से, प्यारे से प्यारे पुरुष से भी इसे न कहें। देखो, मैं एक ऐसी विद्या जानता हूँ कि आपके धन को दश गुना कर सकता हूँ। एक मन सुवर्ण दश दिन तक गाड़ दिया जाय मन्त्रों से हम उसे रख देंगे। दश दिन के पश्चात् वह दश गुना हो जायगा।"

सेठजी ने बड़े विनीत भाव से कहा—"तो महाराज! मेरे भी सोने को दशगुना कर दीजिये। अभी मेरे यहाँ पाँच मन सोना होगा, वह दूना हो जायगा, तब मैं स्त्रियों के आभूषणों तथा अन्य वस्तुओं को भी कराऊँगा।"

साधुने कहा—"हाँ, पहिले पाँच मन को ही कराइये। किन्तु हम तो सुवर्ण को छूते नहीं आपको ही सब करना होगा। अपने उद्यान में चार कोनों पर चार गड्ढे खुदवाइये उनमे बालू भरवाइये। रात में उन चार गड्ढों में सवा सवा मन सुवर्ण रख कर ऊपर से बालू ढककर गड्ढों को बराबर करा दें। फिर जंगल से गौओं के गोबर की कंडियाँ मँगाइये उन गड्ढों पर अग्नि जलाकर मैं हवन करूँगा। दशवें दिन आप खोदकर

निकाल लेना। किसी को मालूम न होने पावे।"

सेठजी ने साधु के कहने से ऐसा ही किया। साधु ने रात्रि में उन सुवर्ण दबे गड्डों के ऊपर अग्नि जलाकर हवन किया, जल के भरे चार घडे रख दिये हवन करके दोनों घर चले आये, प्रात काल जाकर अग्नि हटा दी। स्थान हवन से काला हो गया था परन्तु कोई जान नहीं सकता था इसके नीचे क्या है। उसी दिन कुछ भीख माँगने वाले कंजड वहाँ आकर रह गये। महात्मा ने कहा—"मैं तो जाता हूँ, दशवें दिन आऊँगा।" यह कहकर वे चले गये। वे जो कजड बने उनके चेले वहाँ उपस्थित थे रात्रि में सब सुवर्ण लेकर चलते बने। प्रातःकाल सेठजी हाय हाय! करके रह गये। किसी से कुछ कह भी न सके। तब से उनकी ऐसी धारणा हो गयी थी कि ये साधु वेप मे जितने घूमते हैं सब व्यापारी हैं। पहिले तो बडा त्याग दिखाते हैं, अपने पास से व्यय करते हैं, जब लोग प्रभावित हो जाते हैं, तो उन्हे फँसाकर अपना उल्लू सीधा करते हैं। व्यापार मे भी तो व्यापारी पहिले धन लगाता है तब लाभ होता है। उस साधु ने सौ सवा सौ स्वर्ण मुद्रायें अपने पास से व्यय की फिर पाँच मन सुवर्ण ठग ले गया। इसी प्रकार कोई गोशाला के नाम से, कोई पाठशाला, धर्मशाला, औषधालय, सत्सग-भवन, हवन, उत्सव तथा अन्य धार्मिक कामों के नाम से माँगते हैं और अपना स्वार्थ साधते हैं। इसलिये साधु को बना बनाया अन्न देना चाहिये या ओढने भर को वस्त्र। जो धन माँगे ऐसी चमत्कार की बातें करें उसे ढागी समझना चाहिये।

कहावत है "दूध का जला मट्ठे को फूँक फूँक कर पीता है" इसलिये सेठजी उन त्यागी महात्मा के दर्शनों को भी नहीं गये। भगवान् ने नारदजी से कहा—"बताओ, भाई! अब और दर्शन दें।"

नारदजी ने कहा—"महाराज ! यह पहिले ठगा जा चुका है। साधुवेप धारी धूर्तों ने अपनी धूर्तता से लोगों में अविश्वास उत्पन्न कर दिया है। यह पवित्र साधु वेप इतना व्यापक हो गया है कि इसकी आड में सभी लोग बुरे से बुरा काम करने लगे हैं। स्वार्थी लोग बिना ज्ञान वैराग्य के केवल पैसा पैदा करने को–स्वार्थ साधने को–वेप बना लेते हैं और अपने कुकृत्यों से इस वेप को कलंकित करते हैं। अतः आप साधु ब्राह्मण के वेप को छोड़कर अपने यथार्थ भगवान् रूप से उसे दर्शन दें।"

भगवान् ने कहा—"अच्छा, यही सही। कह दो उससे भगवान् तुमसे मिलने आये हैं।"

अबके नारदजी ने जैसे तैसे कहकर मुनीमजी को भेजा। मुनीमजी ने कहा—"सेठजी ! भगवान् आये हैं, एक साधु कह रहा है, आपको दर्शन देने आये हैं।"

सेठजी बिगड़कर बोले—"मुनीमजी ! तुम्हारी भी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी है। भगवान् कहीं ऐसे आते हैं, कोई धूर्त होगा। बनावटी होगा। कह दो सेठजी को भगवान् के दर्शनों की आवश्यकता नहीं।"

सेठजी की सब बात जाकर मुनीमजी ने नारदजी से कह दी। तब भगवान् हँसे और बोले—"देखो, नारदजी ! बिना अधिकारी हुए मन में मेरे दर्शनों की इच्छा ही नहीं होती। मेरे दर्शनों के लिये कहीं बाहर जाने की आवश्यकता नहीं। मैं तो सबके समीप से समीप में हूँ, सबके हृदय में बैठा हूँ, सबमें व्यापक हूँ, सबके साथ हूँ। किन्तु सब का संसार बन्धन नहीं छूटता। जिन पर मेरी कृपा है, उन्हीं का संसार बधन छूटता है। मेरी कृपा तो सब पर समानरूप से होती रहती है। किन्तु उसे ग्रहण करने की योग्यता भी तो चाहिए। मेरी कृपा की सबसे मोटी

पहिचान यह है कि यथार्थ साधु के दर्शन हो जायँ। साधु ही मेरे यथार्थ रूप को जानते हैं। जब तक कोई परिचय कराने वाला नहीं होता, तब तक चाहे हम सम्राट से ही बातें क्यों न कर रहे हों, हमारे मन में उसके प्रति सम्मान के भाव न उत्पन्न होंगे। कोई परिचय करा दे, तो तुरन्त भाव वदल जायँगे। मैं यदुकुल मे इतने दिन रहा। मेरे यथार्थ रूप को सब नहीं समझ सके। मुझमे प्रेम साधुसग से होता है। जहाँ साधुसङ्ग हुआ वहीं मेरे यथार्थ रूप का वोध हो जाता है, तभी मुझमें प्रेम हो जाता है।"

इस इतने उद्धरण देने का अभिप्राय इतना ही है, सत्सग ही सर्वश्रेष्ठ है, नित्य भगवान् के सन्निकट रहने वाले वसुदेवजी को भी सत्सङ्ग की आवश्यता थी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! यदुकुल को विनाश का शाप हो चुका। भगवान् स्वधाम पधारने की तैयारियाँ करने लगे। भगवान् के अतरग भक्त समझ गये कि भगवान् अव अपनी लीला को सवरण करना चाहते हैं। नारदजी पहिले १० २० दिन में महीने दो महीने में भगवान् के दर्शनो को आते थे, अव तो वे वहाँ प्राय' रहने ही लग गये। इधर उधर घूम आये फिर आ गये। सायकाल को गये, तो प्रातः आ गये। प्रातः गये सयकाल को आ गये। अव उन्हे भगवान् के दर्शनों के बिना कल नहीं पड़ती थी। शरीर धारियो के शरीर धारण करने का सर्वश्रेष्ठ स्वार्थ तो यही है कि सुर मुनि सेव्य श्यामसुन्दर के सुललित चरणारविन्दों का चिन्तन बना रहे। सभी सहृदय इन्द्रियवान् पुरुप पुरुषोत्तम के पादपद्मों का प्रेमपूर्वक पूजन किया ही करते हैं।

एक दिन की बात है कि नारद जी वीणा वजाते हरिगुण गाते भगवान् के महलो मे पहुँचे। उस समय वहाँ भगवान् समुपस्थित नहीं थे, वे सत्यभामा जी या रुक्मिणी के महलो में

पधारे हुए थे। केवल वसुदेवजी बैठे हुए थे। देवर्षिनारद को देखकर वसुदेव जी उठकर खड़े हो गये। पाद्य अर्घ्य देकर उनका
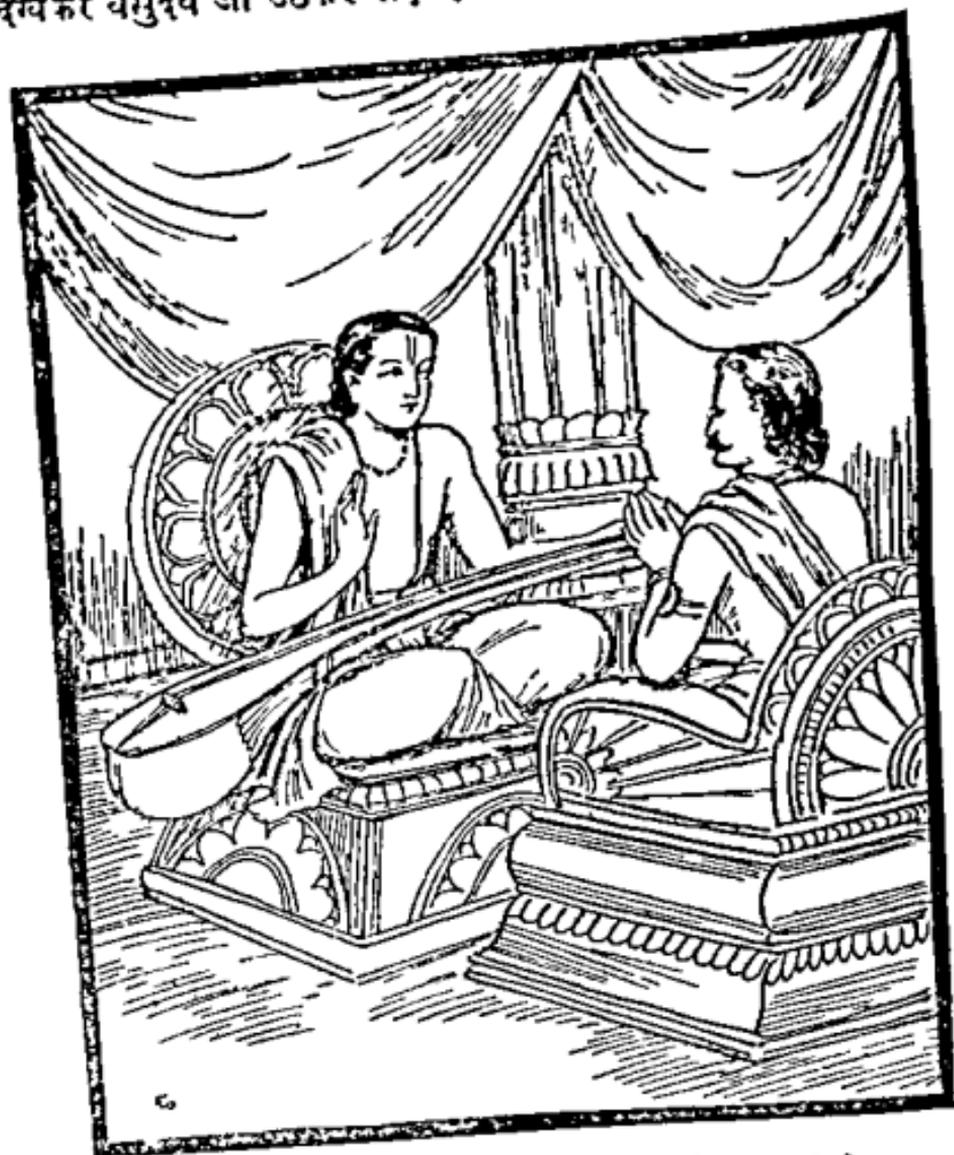
शास्त्रीय विधि से पूजन किया, कुशल पूछी, बैठने के लिये सुन्दर सुखद मृदुल, मनोहर तथा सर्वोत्तम आसन दिया। महामुनि

जब वसुदेवजी के दिये हुए आसन पर बैठ गये तब हाथ जोड़कर वसुदेवजी बोले—"भगवन्! आपका गृहस्थों के यहाँ पधारना शुभ सूचक है। जैसे हरा डाल पर प्रात.काल कौए का बोलना प्रिय आगमन का सूचक है, जैसे हथेली खुजाना धन के आने का सूचक है, मुख में मक्खी घुमना मिष्ठान्न पाने का सूचक है, पुरुष का दायीं और स्त्रियों का बायीं आँख का फरकना प्रिय मिलन का सूचक है, सहसा हुचकी आना अपने प्यारे की स्मृति का सूचक है, बायाँ पैर खुजाना यात्रा का सूचक है, मानसिक प्रसन्नता कार्य सिद्धि का सूचक है, उसी प्रकार घर पर सतों का-भगवद्भक्तों का पधारना कल्याण का सूचक है। परदेश से जब माता-पिता आते हैं, तो जैसे छोटे छोटे बच्चे प्रेम में भरकर उछलने लगते हैं। ससारी सतापों से सतप्त पुरुष सच्चे साधु के सदर्शन से सुखी होते हैं, उनके समस्त शोक सताप शात हो जाते हैं, उसी प्रकार भगवद्भक्तों के पधारने पर मुमुक्षु पुरुषों का चित्त अत्यन्त प्रफुल्लित हो जाता है।"

नारदजी ने कहा—"राजन्! प्रसन्नता तो देवताओं की उत्तम होती है। देवता प्रसन्न होते हैं तो वरदान देते हैं। इच्छित वस्तु को प्रदान करते हैं, दुखो को दूर करते हैं।"

इस पर शीघ्रता के साथ वसुदेवजी बोले—"नहीं भगवन्! देवता सदा सुख ही पहुँचाते हों सो बात नहीं। उनकी पूजा विधिहीन हो जाय तो वे सुख देने की अपेक्षा दुःख ही देते हैं। मेघ वर्षा करते हैं, अन्न होता है, तृण होता है, सभी को सुख होता है, किन्तु कभी-कभी वे असमय में वर्षा कर देते हैं। धान्य पका खड़ा है, वर्षा हो गयी, ओले पड गये, तो उस वर्षा से दुःख ही होता है। इसलिये देवताओं के चरित्र दुःख सुख दोनों के ही कारण होते हैं, किन्तु साधुओं का सत्सग तो सदा सुख का ही कारण होता है। साधु शाप भी देंगे, तो उसका भी

फल उत्तम ही होगा। देवता तो स्वार्थी होते हैं, उनकी पूजा करो प्रसन्न होंगे, जितना पूजा करोगे, उतना ही नाप तोल कर फल देंगे। न पूजा करो तो क्रुद्ध होकर दुःख देंगे। व्रजवासियों ने इतने दिन इन्द्र की पूजा की। एक वर्ष नहीं की इसी पर उसने प्रलय करने वाले सावर्तक मेघों को भेज दिया कि समस्त व्रजमंडल को डुबा दो। वे तो छाया के समान हैं। मनुष्य जैसा कार्य करेगा, उसकी छाया भी वैसा ही अनुकरण करेगी। कुँआ के बोल के समान है, कुँआ में जैसा बोलोगे, वैसा ही उत्तर पाओगे, किन्तु साधु पुरुष स्वभाव से ही दयालु होते हैं। विशेषकर वे दीन दुखियों पर तो दयावश अवश्य ही कृपा करते हैं। मैं भी दीन हो रहा हूँ, मुझे भी यह संसार काटने दौड़ रहा है। मैं आपसे कुछ प्रश्न पूछना चाहता हूँ। यद्यपि साधु का दर्शन ही पुण्यप्रद होता है, इसीलिये मैं तो आपके दर्शनमात्र से ही कृतार्थ हो गया, तथापि मेरी कुछ जिज्ञासा है, आज्ञा हो तो पूछूँ।"

भगवान् नारद जी बोले—"राजन्! आप बड़ी प्रसन्नता के साथ जो पूछना चाहते हो वह पूछें। आपका प्रश्न तो लोक-कल्याण के ही निमित्त होगा। उसके उत्तर में मुझे भगवान् के गुणों को गाने का सुअवसर प्राप्त होगा, इससे मेरी वाणी सुफल हो जायगी, मैं कृतार्थ हो जाऊँगा।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! लोग कहते हैं कि भागवत धर्मों का श्रद्धापूर्वक श्रवण करने से उनके अनुसार आचरण करने से मनुष्य सब प्रकार के भय से मुक्त हो जाता है, वे भागवत धर्म क्या हैं। भागवत धर्मों को जानने की मेरी बड़ी अभिलाषा है, कृपा करके मुझे भागवत धर्मों के सम्बन्ध में बताइये। भागवत धर्मों का स्वरूप क्या है, उनका आचरण कैसे किया जाय?"

यह सुनकर नारदजी हँसे और बोले—"राजन्! आप स्वयं

साक्षात् परब्रह्म पुरुषोत्तम के पिता होकर, इस प्रकार अज्ञों की भाँति प्रश्न पूछ रहे हैं। भगवान् तो आपके पुत्र ही हैं।"

इस पर वसुदेवजी ने कहा—"हाँ, भगवन्! मुझे यह सौभाग्य प्राप्त है, किन्तु मेरी तो श्रीकृष्ण में पुत्र बुद्धि हो गई। बात यह है कि मैं देवमाया से मोहित हो गया था। पूर्वजन्मों में जो मैंने घोर तप किया था, वह मुक्ति के लिये नहीं किया था, केवल सन्तान प्राप्ति के निमित्त किया था, मोक्ष के निमित्त नहीं। फल तो भावना के अनुसार है। यद्यपि भगवान् स्वयं आकर मेरे यहाँ पुत्र रूप में उत्पन्न हुए, किन्तु मेरा तो उनके प्रति वही पुत्र का भाव है। अब हम आपको निमित्त बनाकर मोक्ष मार्ग का उपदेश सुनना चाहते हैं। अतः आप ऐसा उपदेश दें, ऐसे सुन्दर अर्थ की शिक्षा दें जिससे हम नाना प्रकार के दुःखों से पूर्ण और सब ओर से भयों से व्याप्त इस संसार से अनायास-अनायास ही पार हो जायँ। आप हमें मुक्ति के साधनभूत आत्मज्ञान का उपदेश दें।"

छप्पय

माया मोहित भयो कर्यो मैंने तप सुत हित।
अब समुझ्यो यह रहस लगायो प्रभु चरननि चित॥
बोले नारद—"नृपति! प्रश्न अति सुन्दर कीयो।
कृष्ण पिता हैं मोइ प्रश्न करि आदर दीयो॥
नवयोगेश्वर जनक कौ, भयो सुखद सम्वाद वर।
जो सब देशनि सब समय, है सबकूँ कल्याणकर॥

—:—

नारदजी द्वारा वसुदेवजी के प्रश्न का अभिनन्दन

[११६६]

सम्यगेतद् व्यवसितं भवता सात्वतर्षभ ।
यत्पृच्छसे भागवतान् धर्मास्त्वं विश्वभावनान् ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० २ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

ऋषभ तनय शत भये इक्यासी विप्र कहाये।
नव द्वीपनि नव नृपति भूप बड भरत बनाये।।
कवि, हरि, आविर्होत्र, पिप्पलायन, करभाजन।
अन्तरिक्ष अरु चमस, द्रुमिल, अरु प्रबुध योगिगन ॥
नवयोगेश्वर विदित जग, जनक सभा महँ सब गये।
मैथिल मन अति मुदित ह्वै, परमारथ पूछत भये।।

अपने प्रिय पदार्थ के विषय मे कोई कुछ कहता है, गाता है, स्मरण करता है अथवा प्रकारान्तर से अनुमोदन करता है, तो उसके प्रति स्वाभाविक अनुराग हो जाता है। ससार में प्रिय स्मरण ही सार है और सभी निस्सार है। अपने प्रिय पदार्थ को

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं—'राजन् ! वसुदेवजी के प्रश्न करने पर देवर्षि नारदजी कहने लगे—"सात्वत वंशावतंस वसुदेवजी ! आपका यह विचार सर्वोत्तम है। जो आप लोक कल्याण करने वाले भागवत धर्मों को पूछ रहे हैं।"'

पाने के लिये पुरुष परदेश जाते हैं, समुद्रों के वक्षःस्थल को चीरकर देशान्तरों में पहुँचते हैं। संसार में लोग इधर से उधर घूम रहे हैं, दौड रहे हैं, तथा भाँति-भाँति की चेष्टायें कर रहे हैं, सब प्रिय की प्राप्ति के ही निमित्त कर रहे हैं। अन्तर इतना ही है, किसी ने इन नाशवान् अनित्य पदार्थों को ही प्रिय मान रखा है, किसी ने परमार्थ का प्रिय मान रखा है, चाहते हैं सब प्रिय को ही। जिसे प्रिय समझते हैं, उसी की प्रेम पूर्वक चर्चा करते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब वसुदेवजी ने नारदजी से भागवत धर्मों के सम्बन्ध मे प्रश्न किया, तो वे बड़े प्रसन्न हुए और कहने लगे—"वसुदेवजी! आपका प्रश्न कोई अपना निजी प्रश्न नहीं है, यह तो सम्पूर्ण लोकों को पावन बनाने वाला पुनीत प्रश्न है। आप देखिये, जो लोग धन पैदा करना चाहते हैं, वे रात-दिन धन की ही चर्चा करेंगे, चलते फिरते उठते बैठते उसी का चिन्तन करेंगे, रात्रि में सोते समय उसी विषय के स्वप्न देखेंगे। सारांश कि उसी में निरन्तर तन्मय हो जायँगे। इसी प्रकार जो भगवान् को पाना चाहते हैं, उन्हें भागवत धर्मों के विषय में तल्लीन होना चाहिये। जब भी अवकाश प्राप्त हो, जब भी कोई भगवत् भक्त मिल जायँ, तभी भागवत धर्मों का श्रवण करना चाहिये। भागवती कथाओं को पुनः-पुनः पढ़ना चाहिये। यह नहीं कि इसे तो हमने एक बार पढ़ लिया है। जैसे विषयियों को विषयों के पुनः-पुनः सेवन में नवीन-नवीन आनन्द आता है, वैसे ही भागवती कथाओं को बार-बार पढ़ने से नया-नया प्रेम उत्पन्न होता है। उसमें विशेषता प्रतीत होने लगती है। केवल श्रवण पठन करके ही समाप्त न कर दे, सब समय उस पर मनन करता रहे, उसका स्मरण करता रहे। भागवत धर्मों पर मन से श्रद्धा रखे, हृदय में उसके प्रति अनुराग बनाये रहे, दूसरे लोग भागवत धर्मों के विषय में कुछ प्रयत्न करें, उनके प्रसार-प्रचार के लिये कोई योजना

बनावें, तो उसका अनुमोदन करे, यथाशक्ति सहायता दे। इस प्रकार जिनके मन में भागवत धर्मों के प्रति आदर उत्पन्न हो गया है, वे चाहे पहिले कैसे भी क्यों न रहे हों। एक मनुष्य से द्रोह करने की बात तो पृथक् रही, पहिले चाहें वे विश्व से द्रोह क्यों न करते हों, वे भी इन भागवत धर्मों के प्रति श्रद्धा रखने के कारण तत्काल पावन बन जाते हैं। स्वयं तर जाते हैं और दूसरों को तारने में समर्थ हो जाते हैं।"

वसुदेवजी ने कहा—"तो ब्रह्मन्! आप मेरे ऊपर भी कृपा करो। मुझे भी भागवत धर्मों को सुनाओ। आपको कष्ट तो होगा ही, किन्तु साधु तो सदा परकार्य साधन में निरत ही रहते हैं, वे स्वयं कष्ट सहकर दूसरों के कष्टों को काटते हैं।"

चौंककर नारदजी बोले—"अजी, राजन्! भागवत धर्मों के कथन में और कष्ट! यह आपने अच्छी कही। महाभाग! आपने तो मेरे ऊपर अत्यंत ही कृपा की जो मुझे भगवान् की लीलाओं के कथन करने का अवसर दिया। भगवान् की मधुमयी लीलाओं का, उनके जगन्मंगल पवित्र नामों का श्रवण तथा कीर्तन विश्व को पावन बनाने वाले हैं। आपने प्रश्न करके उन्हीं परम कल्याणकारी श्रीमन्नारायण का मुझे स्मरण करा दिया। उन्हीं के परम रुचिर भागवत धर्मों के सम्बन्ध में मुझसे प्रश्न किया। उस प्रश्न का उत्तर दूँगा, तो मुझे अनायास भगवन्नाम माहात्म्य तथा भगवत् लीलाओं के कथन का सुयोग प्राप्त हो जायगा, इससे मैं भी कृतार्थ हो जाऊगा, आपने तो ऐसा विश्वकल्याणकारी प्रश्न करके मेरे ऊपर अनुकम्पा ही की। इस विषय में मैं आपको एक बड़ा ही दिव्य सम्वाद सुनाता हूँ। उस सम्वाद में भगवत् धर्मों का ही वर्णन है। यह सम्वाद राजा जनक का नवयोगेश्वरों के साथ हुआ था।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! ये नवयोगेश्वर कौन हैं? कृपा करके इनका प्रथम परिचय करा दीजिये तब उनके पावन सम्वाद

को सुनाइये।"

नारदजी बोले—"महाराज! स्वायम्भुव मनु के प्रियव्रत नामक पुत्र थे। उन प्रियव्रत के पुत्र हुए महाराज नाभि और इन महाराज नाभि के ही यहाँ भगवान् ने मोक्षधर्म का उपदेश देने के निमित्त ऋषभ रूप से अवतार लिया। भगवान् ऋषभ ने इन्द्र की कन्या जयन्ती के साथ विवाह किया। भगवती जयन्ती के गर्भ से भगवान् ने एक सौ पुत्र उत्पन्न किये। उन सब मे भरतजी सबसे ज्येष्ठ थे। वैसे ये सब-के-सब वेद शास्त्रों के ज्ञाता, धर्मात्मा और विनयी थे। उन सौ मे से नौ पुत्र तो नौ वर्ष के राजा हुए। यह भारत वर्ष अजनाभ खण्ड के नाम से प्रसिद्ध था। जब भरतजी इस खण्ड के राजा हुए तो उन्ही के नाम से उस खण्ड का नाम भरत खण्ड या भारतवर्ष पड़ गया। ये महाराज भरत बड़े ही भगवत् भक्त थे। उतने बड़े विशाल राज को तृण के समान त्याग कर शालग्राम क्षेत्र मे जाकर तप करने लगे। किसी पिछले जन्म के अदृष्ट के कारण इनका एक हरिन के बच्चे मे प्रेम हो गया, जिससे उन्हे एक हरिन का एक जड़भरत का दो जन्म और लेना पड़े। इस प्रकार तीन जन्मो मे परम पद की प्राप्ति की। इस प्रकार नौ नऊ वर्षों के और भरतजी भारतवर्ष के राजा हुए। अवशेष बचे नब्वे। उनमे से इक्यासी अपने अत्युग्र पुण्य कर्मों के कारण क्षत्रिय से ब्राह्मण बन गये। इनका आगे का वंश हुआ। शेष जो नौ बचे वे गृहत्यागी, विरागी, योगेश्वर बन गये। ये नौऊ भाई साथ-साथ रहते थे, अतः नवयोगेश्वर के नाम से प्रसिद्ध थे। इनके नाम कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभा जन थे।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! इन नवयोगेश्वरो की कैसी निष्ठा थी?"

नारदजी बोले—"राजन्! ये लोग सत् असत्, जड़ चेतन

अथवा व्यक्त अव्यक्त रूप सम्पूर्ण ससार को भगवान् का रूप ही समझते थे। सम्पूर्ण भूतो को अपने आत्मा मे ही देखते थे। जब सब भगवान् का ही रूप है, तो फिर शोक, मोह तथा भय आदि का अस्तित्व ही नहीं, इसीलिये ये सब निभय होकर स्वच्छन्द गति से पृथ्वी पर विचरते रहते थे। इनकी सर्वत्र अव्याहत गति थी कहीं रोक नहीं टोक नहीं। इच्छा हुई तहाँ चले गये। कभी देवलोक मे चले गये, कभी सिद्ध लोक मे कभी साध्यों के यहाँ तो कभी गन्धर्वो के यहाँ। इसी प्रकार ये सुर, असुर, साध्य, गन्धर्व यक्ष, किन्नर, नाग तथा मनुष्यादि लोकों मे विचरण करते थे। ऋषि, मुनि, चारण, भूतनाथ, विद्याधर, ब्राह्मण तथा गौओं के रहने के पवित्र स्थानों मे ये सुखपूर्वक यथेच्छ निवास करते थे।

एक बार की बात है, वे अन्य द्वीपो और वर्पों में विचरते हुए भारतवर्ष मे आये। काशी, प्रयाग, गया तथा अन्यान्य तीर्थों मे घूमते घामते वे मिथिला पुरी मे पहुँचे। उस समय निमिवशीय महाराज निमि एक बड़ा भारी यज्ञ करा रहे थे। बड़े-बडे वेदज्ञ ऋषि-मुनि उस यज्ञ मे ऋत्विज, होता तथा सदस्पति थे। सहसा इन सूर्य सदृश परम तेजस्वा महाभागवत योगेश्वरों को देखकर यज्ञ के यजमान महाराज विदेह तथा यज्ञ कराने वाले ब्राह्मणगण उठकर खड़े हो गये। यज्ञ कुण्ड मे जलती हुई आहवनीयादि अग्नियाँ भी ज्योतिरूप से अग्नि कुण्ड से बाहर होकर योगेश्वरों के सम्मान मे खडी हो गयीं। राजा ने आगे बढ़कर योगेश्वरो का सम्मान किया, उन नारायण परायण मुनियो को उत्तमोत्तम आसनों पर बिठाया। पाद्य, अर्घ्य, मधुपर्कादि देकर उनका पूजन किया। नौ आसनो पर बैठे हुए वे मुनिगण नौ अग्नियो के समान अपने तेज से सुशोभित हो रहे थे। वे ऐसे लगते थे मानो ब्रह्माजी के अति तेजस्वी नौ पुत्र बैठे हों। जब मुनिगण सुखपूर्वक बैठ गये और यज्ञ के विश्राम का अवसर प्राप्त हुआ, तब महाराज

विदेह ने उनसे प्रश्न किया। महाराज विदेह ने जो प्रश्न किये और नवयोगेश्वरों ने जो उत्तर दिये, उन प्रश्नोत्तरों में ही आपके प्रश्न का पूर्ण उत्तर मिल जायगा।"

वसुदेवजी ने कहा—"भगवन्! महाराज विदेह क्या क्या प्रश्न किये, और उन नवयोगेश्वरों ने उनके क्या उत्तर दिये। कृपा करके उन प्रश्नोत्तरों को मुझे सुनाइये।"

नारदजी कहने लगे—"महाभाग, वसुदेव! जब वे नवयोगेश्वर राजा की पूजा को स्वीकार करके बैठ गये, तब राजा ने उनसे पूछा। हाथ जोड़कर विनती भाव से राजा कहने लगे—"प्रभो! आपने मेरे यज्ञ में पधारकर मुझे अत्यधिक गौरव प्रदान किया। आप तो स्वयं साक्षात् भगवान् मधुसूदन के परम प्रिय पार्षद ही हैं। भगवान् के पार्षद ही संसारी प्राणियों को पवित्र बनाने के निमित्त पर्यटन किया करते हैं। संसार में बड़े ही भाग्यशाली हैं जिन्हें परम भागवत भगवद्भक्त स्वयं आकर दर्शन दें। मुनियो! यह जीव चौरासी लाख योनियों में कर्मानुसार घूमता रहता है। सर्व प्रथम तो मनुष्य देह प्राप्त होना ही परम दुर्लभ है। अन्य योनियाँ भोग योनियाँ कही गयीं हैं। क्योंकि उन योनियों में प्राणी पूर्वकृत पुण्य पापों को ही भोग सकता है। मोक्ष के लिये प्रायः साधन नहीं कर सकता। मोक्ष इस मनुष्य शरीर से ही प्राप्त होती है। यह मोक्ष का द्वार रूप मनुष्य शरीर बड़े भाग्य से मिलता है। मनुष्य शरीर पाकर भी भगवद्भक्तों का दर्शन सत्संग प्राप्त होना यह तो अत्यंत ही दुर्लभ है, किसी अत्युत्कट भाग्य वाले का ही ऐसा सौभाग्य होता है। मैं बड़ा भाग्यशाली हूँ, जो मुझे आपके आज स्वतः ही दर्शन हो गये। अब मैं आपसे कुछ पूछना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो पूछूँ।"

योगेश्वरों ने कहा—"राजन्! आप तो संसार में विदेह

के नाम से प्रसिद्ध हैं। आप तो सभी ज्ञानियों मे श्रेष्ठ हैं। आप जो पूछना चाहते हो, प्रसन्नता पूर्वक पूछें।"

इस पर महाराज विदेह ने नम्रता पूर्वक कहा—"हे निष्पाप मुनिगण! मैं आप से पूछना यह चाहता हूँ, कि इस असार संसार में आत्यन्तिक कल्याण किसमे है। कौन-सा कर्म करने से से परमपद की प्राप्ति होगी। संसार मे कितना भी मान, सम्मान धन वैभव प्राप्त कर लें, किन्तु अत्यन्तिक शान्ति प्राप्त नहीं होती, कोई-न-कोई शारीरिक मानसिक चिन्ता बनी ही रहती है। मुझे तो आत्यन्तिक कल्याण के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा है। संसार में महात्माओं का दर्शन आधे क्षण के लिये भी मिल जाय, तो उसकी बराबरी संसार का कोई भी धन नहीं कर सकता। सत्संग बड़े भाग्य से प्राप्त होता है। कृपा करके मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें। महात्मागण अनधिकारी के प्रश्न का उत्तर नहीं देते। इधर-उधर की बातें बनाकर टाल देते हैं। यदि आप मुझे अधिकारी समझते हो और मुझे सुनाने योग्य बात हो, तो कृपा करके उन भागवत् धर्मों को सुनाइये, जिनके कारण प्रसन्न होकर अजन्मा प्रभु अपनी शरण में आये हुए शरणागत भक्त को अपने आप को भी दे डालते हैं। उसे अपना स्वरूप ही प्रदान कर देते हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! वसुदेवजी से नारदजी कह रहे हैं—"राजन् जब महाराज विदेह ने नम्रता पूर्वक नवयोगेश्वरों से ऐसा प्रश्न किया, तो उन सब भाइयों मे जो सबसे बड़े योगेश्वर कवि थे, वे राजा के इस प्रश्न का उत्तर देने को प्रस्तुत हुए। अब जिस प्रकार महर्षि कवि राजर्षि विदेह के प्रश्न का उत्तर देते हुए भागवत धर्म का अतिउत्तमता के साथ निरूपण करेंगे उसका वर्णन में आगे करूँगा। संसार में यही समस्त उपदेशों का सार है। इसे सुन लेने के अनन्तर कुछ भी सुनने को शेप नहीं रहता। अतः इसे समाहित चित्त से श्रवण करें।"

छप्पय

बोले विज्ञ विदेह विप्रगन बात बतावें।
जा जग महँ का सार भागवत धर्म सुनावें॥
जिन धरमनि कूँ पालि जगत् के बन्धन टूटें।
लोक और परलोक जीव के भय सब छूटें॥
जनक प्रश्न सुनि मुनिनि में, तै जो कवि मुनि ज्येष्ठ हैं।
भूपति तैं कहिवे लगे, जो सबई विधि श्रेष्ठ हैं॥

—::—

विदेह और योगेश्वर कवि सम्वाद

[१२००]

मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य
पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् ।
उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्
विश्वात्मना यत्र निवर्तते भीः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० २ अ० ३३ श्लोक)

छप्पय

कवि बोले—'नृप ! अजि तचरन चिन्तन ही भयहर ।
सुगम भागवत धरम राजपथ सुन्दर सुखकर ॥
तन, मन, वानी, बुद्धि आदि तैं करै करम जो ।
कृष्णार्पन करि देइ न फिरि बन्धन कारक सो ॥
प्रभु लीला नित नित सुनै, नाम गान निरभय करै ।
नाचै गावै नेह भरि, हँसि रोवै गिरि गिरि परै ॥

संसार में जितने प्राणी हैं, सब बटोही हैं, सभी लक्ष्य प्राप्ति के

---

* योगेश्वर कवि महाराज विदेह से कह रहे हैं—"राजन् ! मैं तो इस संसार में अच्युत के पादपद्मों की नित्य उपासना को ही भय रहित समझता हूँ । जिससे जिन पुरुषों की असत में आत्म भावना हो जाने के कारण बुद्धि विचलित हो गयी है, उनका भी सम्पूर्ण भय नष्ट हो जाता है ।"

निमित्त यात्रा कर रहे हैं। कोई ज्ञान में कर रहे हैं, कोई अज्ञान में किसी को तो विदित है कि हम यात्री हैं, अपने गन्तव्य स्थान की ओर बढ़ रहे हैं, कोई ऐसे है, जिन्हें ज्ञात ही नहीं कि हम यात्री हैं वे चल तो रहे हैं, किन्तु उन्होंने मोह मदिरा का पान आवश्यकता से अधिक कर लिया। मद्यपी चलता है तो उसे यह ज्ञात नहीं होता कि मैं चल रहा हूँ, गिर पड़ता है, तो यह ज्ञात नहीं होता कि मैं गिर रहा हूँ। चलता तो वह भी है, किन्तु वह विपरीत दशा को चलता है। यदि कोई दयालु दयावश उसे पकड़कर राजपथ पर डाल दे और उसका मुख उधर कर दे, तो वह कभी-न-कभी गन्तव्य स्थान तक पहुँच ही जायगा। केवल राजपथ पाने की आवश्यकता है। राजपथ मिल जाय तो चाहे पैदल चले या किसी वाहन से चले पहुँच ही जायगा। सीधा मार्ग ज्ञात होने पर गन्तव्य स्थान कभी-न-कभी मिल ही जायगा।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज जनक के भागवत-धर्म सम्बन्धी प्रश्न करने पर नवयोगेश्वरों से कवि कहने लगे। राजा को सम्बोधन करके वे बोले—"राजन्! आपने ऐसा स्थान पूछा जहाँ किसी भी प्रकार का भय न हो। सो मैं तो महाराज! भगवान् वासुदेव के चरण कमलों की नित्य उपासना को ही सब प्रकार से भय शून्य मानता हूँ। हृदय में जहाँ भगवान् के चरणारविन्दों का चिन्तन होने लगा, तहाँ सभी भय भग जाते हैं। जैसे जिस गुफा में सिंह घुस जाय, उसमें फिर कोई भी जीव जन्तु जाने का साहस नहीं करता। यह मनुष्य अज्ञानान्धकार के कारण अपने आप को भूल गया है, उसने इस असत् शरीर को ही सत् मान लिया है। अनात्म पदार्थ में आत्म बुद्धि कर ली है, नाशवान को अविनाशी मानकर इसी के पालन पोषण की चिंता में आठों पहर लगा रहता है। ऐसे अज्ञ पुरुष भी जिस

पुण्य पथ को पाकर अपने निर्दिष्ट गन्तव्य स्थान को पहुँच जाय, उसी का नाम भागवत धर्म है।"

राजा ने पूछा—"एक स्थान को जाने के लिये पथ तो अनेकों होते हैं, आप इसी पथ की प्रशसा क्यों कर रहे हैं। भागवतधर्म में ऐसी कौन-सी विशेषता है ?"

योगेश्वर कवि बोले—"राजन्! भागवत धर्म में यही विशेषता है कि इसका आश्रय लेने वाला मनुष्य कभी प्रमाद में नहीं पड़ सकता। एक बार विश्वास कर ले हाँ, मुझे इसी पथ पर चलना है। यह इतना विस्तृत सरल सीधा छायादार राजपथ है कि इसमें भटकने का अवसर ही नहीं। स्थान-स्थान पर स्वच्छ सुन्दर शीतल, सलिल का प्रबन्ध है, श्रम मिटाने के अन्य भी अनेकों उपकरण हैं, पके-पके रसीले स्वादिष्ट फल लगे हुए हैं, वे ऊँचे भी नहीं हैं, चलते-चलते हाँथ ऊँचा करके तोड़े जा सकते है। इसमें चलने वाला साथी दयालु कृपालु मधुरभाषी तथा सुहृद हैं। आप आँख बन्द करके दौड़ते हुए बिना किसी से पूछे इस पथ पर चले जायँ, न तो कहीं ठोकर ही लगेगी, न कहीं रपटने फिसलने का ही भय होगा। इस पथ में कीच नहीं, रपटन नहीं, फिसलन नहीं, ऊबड़ खाबड़ नहीं, ऊँचा नीचा नहीं। एक सा सम और सुन्दर मार्ग है।"

महाराज जनक ने पूछा—"भगवन्! इस भागवत् धर्म के पालन करने वाले मनुष्य का कर्तव्य क्या है, उसे क्या-क्या करना चाहिये ?"

कवि बोले—"भागवत धर्म यह नहीं कहता कि तुम जो कुल गत कार्य कर रहे हो, उसे छोड़कर दूसरा कार्य करने लगो। अथवा तुम कोई कर्म करो ही नहीं। देहधारियों के लिये बिना कर्म किये रहना सम्भव ही नहीं। तुम जो कार्य करो उसे तुरन्त कृष्णार्पण कर दो। उसे अपने पास संग्रह मत करो। जिसके

पास जितना भी पैसा आता है, वह तुरन्त उसे दूसरों को दे डालता है, परोपकार में व्यय कर देता है, उसे चोरों का भय नहीं रहता। वह निश्चिन्त होकर तान दुपट्टा सोता है। भय तो अपना मानकर संग्रह करने में है। हमारे स्थान के सम्मुख ही किसी का धन है, वह नष्ट हो जाय, चोरी हो जाय हमें कुछ भी सोच नहीं होता। जो संग्रह करते हैं उसे चिन्ता रहती है। अतः कर्मों का संग्रह न करना चाहिये उन्हें भगवत् अर्पण कर देना चाहिये।"

राजा ने कहा—"महाराज! अर्पण कैसे करें?"

योगेश्वर कवि बोले—"जैसे हमने शरीर से परोपकारादि जो भी कार्य किया, तुरन्त कह दिया—"श्रीकृष्णार्पणमस्तु" यह कर्म मैंने श्रीकृष्ण को अर्पण कर दिया। ऐसा करने पर यदि उससे कुछ पुण्य हुआ होगा, तो न तो हमें उसका पुण्य लगेगा। यदि पाप हुआ होगा, तो न पाप स्पर्श करेगा। हमें कोई अमृत देता है उसे भी बाँट देते हैं, विष देता है उसे भी बाँट देते हैं। जब हम उसका सेवन ही नहीं करते उसे अपना मानकर स्वीकार ही नहीं करते तो उसका अनुकूल प्रतिकूल फल हमें मिलेगा ही कैसे?" इसी प्रकार वाणी से हमने जो भी कहा, उसी क्षण कृष्णार्पण कर दिया। वह वाणी श्रीकृष्ण की वाणी हो गयी, हम उससे कोई प्रयोजन नहीं। मन में अच्छा बुरा जो विचार उठा तुरन्त कह दिया 'श्रीकृष्णार्पणमस्तु' अब उस मन के विचार का जो भी परिणाम हो उसे श्रीकृष्ण जाने उनका काम जाने हम तो उसके फल से निर्मुक्त बन गये। आँखों ने जो देखा घ्राण ने जो सूँघा, रसना ने जो रस चाखा, श्रवणों ने जो सुना, त्वचा ने जो स्पर्श किया, इसी प्रकार जिस इन्द्रिय ने जिस विषय का उपभोग किया, जो भी कर्मेन्द्रियों ने कर्म किया, तत्क्षण

उसे कृष्णार्पण कर दो। वह सब श्रीकृष्ण की सम्पत्ति बन जाती है। बुद्धि ने जो विचारा अहङ्कार ने जो अहंकृति की, उसे अपने पास भूलकर भी पल भर के लिये भी मत रखो। चोर कृष्ण को सौंप दो। जब चोर को हम अपने आप ही सर्वस्व दिये देते हैं, तो वह चुरावेगा क्या? डर तो संग्रह में है भाई! त्याग के अनन्तर तो शान्ति होती है। तुम जो भी स्वभाव के वशीभूत हो कर कर्म करो, सब को उन परमात्मा प्रभु नारायण के लिये देकर निश्चिन्त बन जाओ।"

राजा ने कहा—"महाराज! आप तो कहते थे बड़ा सरल मार्ग है, यह तो बड़ा ही कठिन है। फिर तो संसारी कोई काम ही नहीं हो सकता। रात्रि दिन अर्पण ही करके रहना पड़ेगा। क्योंकि एक क्षण भी ऐसा नहीं बीतता जिसमें तन से मन से मनुष्य कुछ-न-कुछ करता न हो। शरीर से कुछ न भी करे तो मन से तो सोचता ही रहेगा। संसार में भले बुरे सब प्रकार के लोग हैं, कोई आदर करते हैं, कोई गाली देते हैं। एक को देखकर प्रसन्नता होती है, एक को देखकर भय लगता है। उस समय 'कृष्णार्पण' वाली बात तो भूल ही जाती है। अर्पण भावना कैसे आवे इसका उपाय बताइये।"

यह सुनकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! आप पहले इस बात पर विचार करें कि भय होता क्यों है। हम दूर से एक टेढ़ी मेढ़ी रस्सी को अँधेरे में देखते हैं, उसे सर्प समझकर भयभीत हो जाते हैं, एक ठूँठ खड़ा है, अँधेरे में उसे भूत मानकर काँपने लगते हैं। वास्तव में न तो रस्सी में सर्प था—और न ठूँठ में भूत यह विपरीत भावना अज्ञान के कारण हुई। इसी प्रकार यह पुरुष विश्वम्भर से विमुख होकर संसार को ही सत् मानकर उसी में भटक रहा है, उसी में सुख की खोज कर रहा है। केले के पेड़ के पत्तों को छील-छीलकर उसमें फल की खोज करता है। ऊपर के

परत को छीलकर फेंकता है, फिर दूसरा परत निकल आता है। उसके भीतर कुछ है नहीं। इसी प्रकार भगवान् की माया से मोहित होकर इस देह को ही अपना रूप मान बैठा है, इसी के द्वारा ससारी सुख भोगकर सुखी बनना चाहता है। जो देह स्वयं ही असत् और नाशवान है उससे अविनाशी और शाश्वत सुख कैसे भोगा जा सकता है। आत्मा से अतिरिक्त जब द्वितीय वस्तु की सत्ता का अभिमान हो जाता है, तभी भय की प्राप्ति होती है, भय सदा दूसरे से होता है। अपने आप से किसी को भय नहीं। स्त्री जब अकेली रहती है, तो निर्भय होकर अपने सब अङ्गों को खोले रहती है। दूसरे की कल्पना आते ही वह अङ्गों को ढक लेती है। इसलिये सत्यस्वरूप अद्वय परमात्मा के अतिरिक्त दूसरे की कल्पना ही न करो। जो विवेकी पुरुष भागवत धर्मों का आचरण करे, उसे अपने शिक्षा देने वाले गुरु मे ही इष्ट बुद्धि करनी चाहिये। जैसे वे बतावें वैसे अनन्य भक्ति भाव से भगवान् का भजन करे।"

महाराज जनक ने कहा—"भगवन्! जो ज्ञान दे वही गुरु है। आप ही हमारे गुरु हो। हम असत् वस्तु का चिन्तन नहीं करना चाहते हैं, फिर भी चिन्तन हो ही जाता है। हम समझते हैं, इस वस्तु के सेवन से दुःख है, फिर भी उसका सुख की इच्छा से विवश होकर सेवन करत हैं। इसका क्या उपाय है ?"

हँसकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! वाणी से असत् कह देने मात्र से ही असत् थोड़े ही हो जाते हैं। सब वेद शास्त्र बार-बार चिल्ला-चिल्लाकर डके की चोट से कह रहे हैं, यह द्वैत प्रपंच वास्तव मे कुछ नहीं है। जैसा दीखता है वैसा नहीं है, फिर भी यह सत्य हो भासता है। हम बैठे-बैठे सोचते हैं। एक रथ लावेंगे, उसमे सुन्दर घोड़े जोतेंगे। गुदगुदा गद्दा बिछावेंगे,

उस पर चढकर काशी जायँगे। जिस समय ये बातें सोचते-सोचते तन्मय हो जाते हैं, उस समय घोडे रथ, गद्दे आदि सभी सत्य

प्रतीत होने लगते हैं, मन से रथ पर चढकर चलते तो ऐसा लगता है, मानों यथार्थ जा रहे हो। जहाँ मन दूसरी ओर गया, वे सब

मनके पदार्थ असत्य प्रतीत होते हैं। ऐसे ही स्वप्न में राजा हो गये, बड़े बड़े सुख भोगने लगे। जब तक स्वप्न देखते हैं, तब तक वे सब स्वप्न के पदार्थ यथार्थ प्रतीत होते हैं। आँखें खुलीं कि फिर कुछ नहीं। इन सब पदार्थों की चित्त ही अपने आप कल्पना करता है वही उसमें सुखानुभूति करता है। अतः हत्या की जड़ यह चित्त ही है। इसलिये चोर को न मारकर चोर की माता को मार डालो, जिससे चोर पैदा ही न हों। बाहरी पदार्थों को नष्ट न करके पहिले इस कर्मों के सङ्कल्प विकल्प करने वाले चित्त को ही वश में करो। स्रोत को रोक देने से धारा अपने आप ही रुक जायगी। चित्त जहाँ वश में हुआ वहाँ द्वैत बुद्धि हट जायगी। जहाँ सर्वत्र आत्मरूप श्रीहरि दिखायी देने लगे वहाँ फिर भय कहाँ।"

राजा ने कहा—"महाराज ! आप तो असंभव बात बता रहे हैं। चित्त का स्वभाव ही है चिन्तन करना वह तो बिना चिन्तन किये एक क्षण भी रह नहीं सकता। फिर चित्त को रोकें कैसे ? करें क्या ?"

हँसकर योगेश्वर कवि बोले—"राजन् ! चित्त को चितचोर के चिन्तन में लगा दो। उन्हीं के भुवनमोहन रूप का चिन्तन करें, उन्हीं के गुणों का गान करें, उन्हीं के श्रुतमधुर नामों का निःसङ्कोच होकर उच्चारण करें, करो स उन्हीं के कैंकर्य को करें। सारांश यह कि जो करें भगवान् के सम्बन्ध से करें। अपने जीवन का ध्येय नामसङ्कीर्तन में अनुराग उत्पन्न करना ही रखें।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! नामसङ्कीर्तन किसे कहते हैं ? नामसङ्कीर्तन में अनुराग कैसे उत्पन्न हो, भगवन्नाम में अनुराग उत्पन्न हो गया, यह कैसे जाना जाय, कृपा करके मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

यह सुनकर महर्षि कवि बोले—"राजन् ! यह विषय

बड़ा गूढ़ है तथापि मैं यथा मति कहूँगा, आप समाहित चित्त से श्रवण करें।"

सूतजी कहते है—"मुनियो ! जैसे योगेश्वर कवि ने आगे नामसङ्कीर्तन की महिमा बतायी उसे मैं आपसे कहूँगा, यही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है।"

छप्पय

लोक लाज कूँ त्यागि पुकारै प्रभु अब आओ।
हरि ! नारायण ! कृष्ण ! कृपालो ! दरश दिखाओ ॥
हैकें सदा असंग त्यागि संकोच सबनिको।
करै मधुर स्वर सतत कीरतन हरि नामनिको ॥
करत-करत कीरतन कलित, होहि प्रेम प्रभु पदनि महँ।
तब निरखै निज इष्टकूँ, जीव चराचर सबनि महँ ॥

नाम संकीर्तन महिमा

(१२०१)

शृण्वन्सुभद्राणि रथाङ्गपाणे- ।
जंन्मानि कर्माणि च यानि लोके ॥
गीतानि नामानि तदर्थकानि ।
गायन्विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥ *

(श्री भा० ११ स्क० २ अ० ३९ श्लो०)

छप्पय

वृक्ष, नीर निधि, नदी, सरोवर, पुर, वन, भूधर ।
पृथिवी, जल अरु अनिल, अनल, नभ, नखत चराचर ॥
सबकूँ प्रभु को रूप समुझि नित शीश नवावे ।
आदर सबको करै भेद मन महँ नहिं लावै ॥
भगै भूख भोजन करत, तुष्टि पुष्ट हू होहिं ज्यों ।
भजन करत प्रभु प्रेम अरु, होहिं ज्ञान वैराग्य त्यों ॥

---

* योगेश्वर कवि महाराज विदेह को भागवत धर्मों का उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"राजन् ! बुद्धिमान पुरुष को चाहिये कि प्रथम चित्त को स्थिर करके भगवान् चक्रपाणि की जो मंगलमय जन्म और कर्म की कथायें हैं उन्हें सुनता हुआ तथा उनकी लीलाओं के अनुसार रासबिहारी, मुरलीधारी, गोवर्धनधारी आदि नामों का निःसंकोच होकर गान करता हुआ, असंग भाव से इस संसार में विचरता रहे ।"

जिससे पूर्ण परिचय नहीं होता उसी से सकोच होता है। जिन महात्माओं का हमने नाम तो सुना है, उनके कार्यों से उनकी कृतियों से हमें परिचय है, किन्तु पूर्ण परिचय नहीं हुआ है, तो पहिले पहिले उनसे मिलने में सङ्कोच होगा। जहाँ परिचय प्रगाढ़ हुआ, तहाँ हम ढीठ बन जाते है, कहने न कहने योग्य सभी बाते उनसे कह देते हैं। चोर को प्रथम चोरी करने मे सङ्कोच होता है, करते-करते अभ्यास हो जाता है, तो उसके लिये साधारण सी बात हो जाती है। नवविवाहित पति पत्नी प्रथम मिलते हैं तो दोनों ओर से बड़ा सङ्कोच होता है, जब दोनों एक दूसरे से पूर्ण परिचित हो जाते है, तब तो लड़ाई झगड़ा यहाँ तक कि मार पीट तक की नौबत आ जाती है। सङ्कोच तभी तक होता है, जब तक उसमे तदाकार नहीं होते। किसी सम्प्रदाय मे प्रथम दाखिल होते हैं, तो उनके जैसे चिह्न धारण करने मे सङ्कोच होता है। धारण करते-करते वह जीवन में घुल मिल जाता है, उसके बिना सूना-सूना-सा प्रतीत होता है। इसी प्रकार जिन्होंने पहिले भगवान् के नाम का कीर्तन नहीं किया है, उन्हें पहिले उच्च स्वर से बोलने मे ताली बजाने मे सङ्कोच होता है। करते-करते जहाँ सङ्कोच दूर हुआ तो फिर सबके सम्मुख नाचने मे भी लज्जा नहीं लगती।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने योगेश्वर कवि से नाम सङ्कीर्तन का स्वरूप, नाम सङ्कीर्तन मे अनुराग होने का उपाय तथा नाम सङ्कीर्तनानुरागी की पहिचान ये तीन प्रश्न किये तब योगेश्वर कवि उनके प्रश्नों का उत्तर देने लगे।"

योगेश्वर कवि महाराज विदेह से कह रहे हैं—"राजन्! भगवान् के नामों का, उनके गुणों का उच्च स्वर से बार-बार उच्चारण करने का नाम कीर्तन है। वही कीर्तन जब बहुत लोगों के साथ मिलकर ताल स्वर और गाजे बाजे के साथ किया जाता है, तो

वह सङ्कीर्तन कहाता है। नाम सङ्कीर्तन में केवल भगवान के नामों का ही बार-बार उच्चार होता है और गुण कीर्तन तथा लीला कीर्तन मे भगवान की लीलाओं का, उनके दिव्य चरित्रों का गान होता है। जब तक मन में ससारी वासनायें भरी रहती हैं विषयों का सङ्कल्प विकल्प उठता रहता है, तब तक भगवान के नामों मे उनकी कथाओं मे प्रेम नहीं होता।"

राजा ने पूछा—"तब महाराज! बिना चित्त शुद्ध हुए कथा कीर्तन में सम्मिलित होना व्यर्थ है।"

कवि मुनि बोले—"व्यर्थ क्यों हैं महाराज! कथा कीर्तन मे सम्मिलित होना व्यर्थ कभी भी नहीं है। मन मे सन्सारी संकल्प विकल्प उठते रहे तो भी सम्मिलित होना चाहिये। कथा कीर्तन से शनैः शनैः संकल्प विकल्प दूर होने लगेंगे।"

राजा ने कहा—"महाराज! बिना मन के सम्मिलित होने से तो समय को ही खोना है। जब मन ही नहीं लगता तो कथा कीर्तन मे जाना व्यर्थ है, पहिले चित्त को शुद्ध कर ले, तब कथा कीर्तन में जाय।"

मुनिवर कवि बोले—"राजन्! बिना मन के तो कोई भी काम हो ही नहीं सकता। बिना मन के हम साँस भी नहीं ले सकते। मन का कुछ सङ्कल्प जब रहेगा तभी कार्य होगा। जो कथा कीर्तन मे बिना मन के भी—अशुद्ध चित्त के भी—आता है, उसके मन का कुछ-न-कुछ झुकाव इस ओर अवश्य है। चाहे उसे विदित न हो। झुकाव न होता तो वह आता ही नहीं। नित्यप्रति आने से उसका झुकाव बढ़ता जायगा। फिर मन की शुद्धि का उपाय भी तो कथा कीर्तन ही है। यह सत्य है कि जब तक घोड़े पर चढ़ना न आवे तब तक घोड़े पर न चढ़ना चाहिये, किन्तु घोड़े पर चढ़ना भी तो घोड़े पर नित्य-नित्य चढ़ने से ही आवेगा। बिना तैरना जाने जल में न घुसना चाहिए, किन्तु बिना जल में

घुसे तैरना भी तो नहीं आता। अतः मन न भी लगे तो भी कथा कीर्तन में जाना चाहिये।"

राजा ने कहा—"हाँ, महाराज! मैं कीर्तन और सङ्कीर्तन के विषय में तो समझ गया, अब कृपा करके यह बताइये कि भगवान् के नामों में अनुराग कैसे हो?"

मुनिवर कवि बोले—"राजन्! यह तो मैं आपको बता चुका हूँ, कि अनुराग नित्य नित्य के अभ्यास से होता है। नित्य नित्य के अभ्यास से कठिन कार्य भी सरल हो जाता है। देखिये, रेशम की रस्सी कितनी कोमल मृदुल रहती है, उसे ही नित्य पत्थर पर खींचो तो उससे भी गड्ढे पड़ जाते हैं। वृक्ष का तना कितना कठोर होता है, लता निरंतर उससे लिपटी रहती है, तो उसमें भी चिह्न बन जाते हैं गड्ढे हो जाते हैं। संसार में सभी अभ्यास से होते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! हम लोगों का मन तो [illegible] विषयों में जाता है। विषय वार्ता बड़ी मीठी लगती है।"

मुनि ने कहा—"राजन्! यह भी अभ्यास [illegible]। जन्म जन्मान्तरों से जीव इन्हीं आहार, निद्रा, [illegible] रहता है। न जाने कितने जन्मों से इन [illegible] गया है। जहाँ इन्द्रियाँ इन कार्यों के अनुकूल [illegible] बिना सिखाये इनमें प्रवृत्ति हो जाती है। [illegible] पान, सुरापान का अभ्यास हो [illegible] हो जाता है, तो विषयों को तो [illegible] हैं। इनके प्रति ऐसा दृढ़ [illegible] चित्त चञ्चल हो ही जाता है। [illegible] करना है। मन जब [illegible] उसे दूसरे में लगाना [illegible] से वैराग्य करके मन [illegible]

राजा ने कहा—"विषयों से वैराग्य कैसे हो, इसी का उपाय प्रथम बताइये।"

मुनि बोले—"देखिये, महाराज! किसी को गुड खाने का अभ्यास हो गया है उसके मन को आप तभी उससे हटा सकेंगे जब आप उसे गुड से भी अच्छा वस्तु मिश्री उसके सामने रखेंगे। सामने रखने मात्र से भी काम न चलेगा, उसे यह निश्चय करा देंगे कि गुड से मिश्री स्वादिष्ट है और लाभप्रद भी है। बिना इच्छा के भी उसके मुख में एक डली डाल देंगे। सन्सारी लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सन्सारी विषयों की बात सुनने में है। पुरुषों को सुन्दरी स्त्रियों की, स्त्रियों को सुन्दर सुन्दर पुरुषों की बातें बडी मीठी लगती है। सब पुरुषों से सुन्दर श्रीकृष्ण हैं। सब स्त्रियों से सुन्दरी श्रीराधाजी हैं। अतः श्रीराधा-कृष्ण की लीलाओं का श्रवण करना चाहिये। मन को ससारी विषयों से हटाकर श्री-राधा-कृष्ण के विहार के दिव्य विषयों में लगाना चाहिये। मन सहसा विषयों से न हटेगा, क्योंकि इसे चिरकाल का अभ्यास है। विष्ठा के कीडे को विष्ठा की गध नहीं आती। लहसुन प्याज खाने वालों को उसकी दुर्गन्धि नहीं आता, कुछ दिन छोड दे तब गध आने लगती है। अत. कुछ समय निकालकर बिना ही मन के कथा कीर्तन में सम्मिलित होना चाहिये। भगवान् के सुन्दर-सुन्दर नामों का उनके जन्मों का और कर्मों का श्रवण करे। कान में बिना इच्छा के भी भगवत् चरित्रों को डाल दे। चरित्र सुनते सुनते एक परिभाषा बना ले, जिससे भगवान् के चरित्र याद हो जायँ।"

राजा ने पूछा—"परिभाषा कैसे बनावें महाराज!"

महामुनि कवि बोले—"परिभाषा ऐसे जैसे हम भगवान् के जन्म की लीला स्मरण करनी है, तो भगवान् के देवकीनन्दन, वसुदेव, मथुरेश इन नामों को याद कर ले। देवकी वसुदेव का नाम याद आते ही जन्म की लीला का चित्र खिंचेगा। ब्रज की

लीला याद करनी हो तो नन्दनन्दन, यशोदानन्दन, गोपीजन वल्लभ, गोपाल इन नामों को याद कर ले। पूतना लीला का स्मरण करना हो, तो पूतनारि, माखन चोरी लीला के स्मरण को, नवनीतचोर, माखनचोर इन नामों को, उखल लीला के लिये दामोदर, गोवर्धन लीला के लिये गिरधारी, रासलीला के लिये विहारी, अघासुर लीला के लिये अघासुर सहारी, कस लीला के लिये कसारि इसी प्रकार उनकी विचित्र लीलाओं के अनुसार रखे गये उनके नामों को याद करे। कथा सुनने के अनन्तर उनका मनन करे। फिर शनैः-शनैः उन नामों का उच्चारण करे। श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव। श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव। ऐसे ओठों को चलाता रहे। जिस वस्तु को हम अपना लेते हैं, उसके प्रति अपनापन हो जाता है। फिर सबके सामने हमें यह कहने मे लज्जा नहीं लगती कि ये हमारे हैं। जब तक सम्बन्ध न जुड़े तब तक सङ्कोच रहता है, जहाँ गठबन्धन हो गया, निर्भय होकर सबके सामने कह देते हैं। ये हमारे अमुक हैं। इस प्रकार नाम लेते-लेते नाम के प्रति तो आसक्ति बढने लगेगी और ससारी विषयों से आसक्ति घटने लगेगी। फिर उच्च स्वर से नामों का गान करे। उच्च स्वर से गान करने से जो हृदय पाषाण के सदृश कठिन हो गया है, वह पिघल जायगा, मोम बन जायगा। बहुतो को देखते हैं, उनकी आखो मे आँसू ही नहीं आते, भगवान् के सुमधुर नामों को सुनकर शरीर रोमाञ्चित नहीं होता, समझ लो इनका हृदय पाषाण का है, यह निरन्तर नाम गान से पिघलेगा। नाम गान करते-करते हृदय आनन्द में भर जाय, तो फिर नाचने लगे।"

राजा ने कहा—"अजी, महाराज! सबके सामने नाचेंगे तो कोई क्या कहेगा? यह तो बडी लज्जा जनक बात होगी?"

हँसकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! इसमें लज्जा की कौन

सी वात है। लोग जो कहे कहते रहें। हमने सबका ठेका तो ले नही रखा है। लोग स्त्रियों के सामने गिड़गिडाते हैं, उनके पैर पकड़ते हैं, वे जैसे नचाना चाहती हैं नाचते हैं। इसमे उन्हे लज्जा नही आती? एक करोड़पती है, विवाह में लाखों रुपये व्यय करता है, पुत्र जन्म पर मनमाना धन लुटाता है, वही जब अपनी दुकान में बैठता है, तो व्यापारी से एक पैसे के लिये झगड़ा करता है, इतने बड़े आदमी को एक पैसे का हिसाब करने मे लज्जा नहीं आती? एक प्रान्तपति है, सबके ऊपर शासन चलाता है, जब राष्ट्रपति आता है, तो उसके संकेत पर नाचता है, लाज छोड़कर कुत्ते की भाँति उसके पीछे दौड़ता है, उसे लज्जा नहीं आती? एक वेश्या है, ठाठ-बाठ से जा रही है कोई अपरिचित आदमी उसे छू दे कितनी क्रुद्ध होती है। वही सबके सामने लहँगा पहिन कर नाचती है, उसे नाचने मे लज्जा नहीं आती। एक राजा है, बड़ा गंभीर रहता है, सबको डराता है, वही जब अपने लड़के से खेलता है, तो उसके मुँह से मुँह सटाता है, उसका घोड़ा बनता है, उसे चाँई माई चाई माई करके घुमाता है, नचाता है, उसे लज्जा नहीं आती। एक सैनिक है, कितना बली है, कितना शूरवीर है, किन्तु जब वह सेना मे सबके साथ सैनिक प्रदर्शन करता है, तो उसका बड़ा अधिकारी उसे कैसा नचाता है। उठो, बैठो, बाईं ओर घूमो, दायीं ओर घूमो, आगे चलो, पीछे मुड़ो, दौडो, दो पंक्तियों में हो जाओ, सर्वाङ्ग घूम जाओ।" जैसा वह नाच नचाता है, वैसा नाचता है, उसे लज्जा नहीं आती?"

राजा ने कहा—"भगवन्! इन कामों मे लज्जा की जाय, तो जीविका कैसे चले? ये तो करने ही पड़ते हैं।"

मुनि ने कहा—"तो इसी प्रकार भक्त भी भगवान् के सामने नाचने को विवश है। उसे उनके सामने सब करना पड़ता है।

वह लोक लाज को वहा देता है। सबका सङ्ग त्यागकर असङ्ग, भाव से संसार में विचरण करता रहता है।"

राजा ने पूछा—"महाराज! जो असङ्ग हो गया है, जिसमें प्रभु के प्रति दृढ अनुराग हो गया है उसकी चेष्टायें कैसी होती हैं?"

मुनि बोले—"राजन्! जिनका भगवान के प्रति दृढ अनुराग हो गया है। जिनकी विषयों के प्रति आसक्ति कम हो गयी है, वह असङ्ग भाव से स्वेच्छा पूर्वक घूमता रहता है। अब उसे सब समय श्यामसुन्दर की सुखद स्मृति बनी रहती है। उसका हृदय नवनीत के समान द्रवित हो उठता है। जैसे दूध से मुख तक भरा पात्र तनिक ठोकर लगते ही छलकने लगता है, उसी प्रकार उसका हृदय छलकने लगता है, हृदय अत्यंत कोमल बन जाता है। संसारी लोग हमारे आचरण को देखकर क्या कहेंगे, इसकी वह तनिक भी चिन्ता नहीं करता। कभी भगवान् के सङ्गम सुख को स्मरण करके खिल खिलाकर हँसने लगता है। कभी श्यामसुन्दर की स्मृति आने से उनका विरह अनुभव होने से ढाह मारकर रोने लगता है। कभी उच्च स्वर से चिल्ला उठता है "हा! प्राणनाथ! तुम कहाँ गये। हा, कृपालो! कृपा करो। नाथ, तुम्हारे देखे बिना इन व्यर्थ के दिनों को कैसे बिताऊँ? दर्शन दो प्रभो! हे कृष्ण! हे कृपालो! हे अशरण शरण! हे रमानाथ! हे व्रजवल्लभ!" इस प्रकार भगवान् को सम्बोधन करके चिल्लाता है। कभी गाने लगता है 'तुम बिन मेरी कोन खबर ले गोवरधन गिरधारी।" कभी एक पद को बार बार गाता है, कभी हाव भाव प्रदर्शित करके नृत्य करने लगता है। साराश उसकी अधिकाश चेष्टायें उन्मत्त के सदृश हो जाती है। उसकी दृष्टि में संसार रहता ही नहीं। वह और उसके प्राणनाथ! ... चेष्टाओं से अपने श्यामसुन्दर को रिझाता हुआ

उन्हीं चेष्टाओं को निःसङ्कोच करने लगता है।"

यह सुनकर महाराज विदेह आश्चर्य-सा प्रकट करते हुए बोले—"भगवन्! यह तो बहुत ऊँची स्थिति है। यह स्थिति प्राप्त कैसे हो, किस साधन से ऐसी दशा हो सकती है।"

यह सुनकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! जिन पर श्रीहरि की कृपा हो, उन्हें ही यह स्थिति प्राप्त होती है, यह कृपा साध्य है। फिर भी इसके लिये जगत् को हरि रूप में देखने से ऐसी स्थिति प्राप्त होती है।"

राजा ने कहा—"महाराज! जगत् को हरि रूप कैसे देखें? संसार में तो असख्यों वस्तु हैं, अनेक प्रकृति के प्राणी हैं, कोई हमसे राग करते हैं, कोई द्वेष करते हैं। जो हमसे द्वेष करता है, उसे भगवान् कैसे माने।"

मुनि बोले—"अनेकता में एकता का दर्शन करना यही तो साधन है। तुम पहिले सबमें पूज्य बुद्धि करो। पूज्य बुद्धि हो जाने से फिर किसी के प्रति राग द्वेष रहेगा ही नहीं।"

राजा ने पूछा—"पूज्य बुद्धि कैसे करें, महाराज!"

मुनि ने कहा—"देखिये, पहिले तुम्हें जो दीखे उसी के लिये ईश्वर बुद्धि से प्रणाम करो। ईश्वर तो अणु-अणु में व्याप्त है। तुम ऊपर से रूप को देखना छोड़कर उसके भीतर जो आत्मरूप से अवस्थित है उसे ही देखकर प्रणाम करो। पृथ्वी को देखो, तो समझो यह भी भगवान् का रूप है, उसे प्रणाम करो। जल को देखो उसे भी प्रणाम करो, वापी, कूप, सरोवर, नद, नदी तथा समुद्र जिसे भी देखो प्रणाम करो। अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा तथा जो भी प्रकाशमय वस्तु दीखें सबको प्रणाम करो। वायु को प्रणाम करो, आकाश को प्रणाम करो, वन, पर्वत, वृक्ष, ग्रह, नक्षत्र, तारा, अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज जो भी दिखायी दें सबको मन से प्रणाम करो, सबमें आदर बुद्धि करो। ऐसा करते करते सब में

आदरबुद्धि हो जायगी, फिर समझने लगेंगे कि ये सब चराचर जीव श्रीहरि का शरीर है। इस प्रकार सबमें उन्हीं को समझकर अनन्य भाव से एकत्व की उपासना करे।"

राजा ने कहा—"महाराज! आपने तव से तीन बातें बतायीं। एक तो आपने कहा इन ससारी विषयों से मुख को मोड लेना अर्थात् वैराग्य धारण करना। दूसरी बात यह बतायी कि भगवान् के स्वरूप का अनुभव करना कि वे सम्पूर्ण भूतों में रम रहे हैं। तीसरी बात यह बतायी कि भगवान् में प्रगाढ प्रेमभाव स्थापित करना। अब तीनों में से प्रथम किस साधन को करे।"

हँसकर महामुनि कवि बोले—"राजन्! भगवान् का भजन करने से, निरन्तर उनके नामों का कीर्तन करने तथा उनके गुण श्रवण करने से ये तीनों बातें अपने आप ही प्राप्त हो जाती हैं। जैसे कोई भूखा है, उसके सम्मुख खीर, मोहनभोग तथा मालपूए रख दें। वह मालपूआ का एक ग्रास तोडता है उसे खीर में सानकर मुख में रखकर चबाकर निगलता है, फिर दूसरा ग्रास लेता है। इस समय वह काम तो एक ही कर रहा है अर्थात् केवल भोजन कर रहा है, किन्तु प्रत्येक ग्रास पर काम तीन हो रहे हैं। एक तो ज्यों-ज्यों वह भोजन करता जाता है त्यों-त्यों उसकी तुष्टि होती जाती है। तुष्टि के साथ ही साथ बल भी आता जाता है, शिथिल इन्द्रियाँ चैतन्य होती जाती हैं, प्राणों का पोषण होता जाता है, अर्थात् तुष्टि के साथ-ही साथ पुष्टि भी होती जाती है और प्रति ग्रास पर भूख की निवृत्ति भी होती जाती है। जैसे भोजन करने से तुष्टि पुष्टि और भूख की निवृत्ति ये तीनों काम साथ साथ होते जाते हैं, वैसे ही भगवान् का भजन करने से साधक को प्रभु में प्रेम, विषयों से वैराग्य और सर्वेश्वर के स्वरूप का अनुभव ये तीनों बातें साथ-ही साथ होती जाती हैं, इनके लिये पृथक् पृथक् प्रयत्न नहीं करना पडता।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इस विषय को और स्पष्ट करके समझावें।"

मुनि बोले—"अच्छा, देखिये, जैसे कोई मनुष्य है। वह निरंतर श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे! हे नाथ नारायण वासुदेव! या अन्य किन्हीं भगवान के नामों का उच्चारण करता रहता है, उन्हीं की कथा सुनता है, इधर उधर की संसारी निन्दा स्तुति की बातें सुनने को उसे अवकाश नहीं तो संसारी विषयों से विराग तो अपने आप ही हो गया। जैसे कोई अँधेरी कोठरी है, उसमें ले जाकर आपने दीपक रख दिया। केवल दीपक रख देने से ही वहाँ का अंधकार भग गया। अंधकार को लाठी लेकर पृथक् भगाने का प्रयत्न नहीं करना पड़ा। इसी प्रकार जब तक हम संसारी विषयों में फँसे रहते हैं, तब तक संसार के ही सम्बन्ध में बातें करते हैं, संसारी वस्तुओं को जुटाने के ही लिये प्रयत्न करते रहते हैं, संसारी पदार्थों का ही चिन्तन करते रहते हैं, सारांश हमारे चित्त में संसार ही बसा रहता है। जहाँ भगवान् का नाम, उनका चरित्र चित्त में समा गया, तहाँ संसार वहाँ से स्वतः भग जाता है। ऐसे कथा कीर्तन प्रेमी को संसार की बातें विषवत् प्रतीत होने लगती हैं। कथा कीर्तन से प्रेम होते ही स्वतः विषयों से वैराग्य हो जाता है। जो भी कुछ दिखायी देता है, देखा जाता है, सोचा जाता है, सब मेरे इष्ट का ही जब रूप है, तो फिर विरोध किससे किया जाय? किसे छोड़ा जाय, किसे ग्रहण किया जाय। जब सब इष्ट के रूप हैं, तो सबसे प्रेम करो, सब का आदर करो, सबको अपनाओ, सबको हृदय से लगाओ। इस प्रकार राजन्! जो केवल भगवान् के भजन में ही संलग्न रहता है, जो प्रभु के पादपद्मों का निरन्तर चिन्तन करता रहता है, ऐसे भावुक भक्त को भगवत् प्रेम, विषयों से वैराग्य और भगवत् प्रबोध ये तीनों बातें अनायास ही अवश्य प्राप्त हो जाती हैं। जहाँ ये तीनों

बातें प्राप्त हो गयीं, तो फिर प्राप्त करने को और शेष ही क्या रह गया। प्रभु प्रेम ही तो जीवन का लक्ष्य है, यही तो शाश्वती शांति का मुख्य कारण है। शान्ति के ही लिये तो जीव इधर से उधर भटक रहा है। वह शांति विषयों के चिन्तन से नहीं भगवान् के चिन्तन से उनके नामों का कीर्तन करने से उनके गुणों का श्रवण करने से प्राप्त होती है।"

यह सुनकर महाराज विदेह अत्यंत प्रसन्न हुए और अपनी प्रसन्नता को प्रकट करते हुए बोले-"प्रभो! आपकी बातों को सुनते-सुनते मेरी तृप्ति ही नहीं होती, चित्त चाहता है, इसी प्रकार सदा सुनता ही रहूँ। भगवन्! आपने भगवत् भक्तों की बड़ी महिमा बतायी। अब मैं उन्हीं भागवतों के सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप से सुनना चाहता हूँ। क्योंकि भगवान् तो किसी विरले को ही दीखते हैं, भगवत् भक्त तो प्रत्यक्ष ही दिखाई देते हैं। कृपा करके हमें भगवत् भक्तों के धर्म सुनाइये। भक्त का स्वभाव कैसा होता है। भगवद्भक्तों के भी दो हाथ दो पैर दो आँखें आदि होते हैं। वे भी मनुष्यों के समान होते हैं। हम कैसे जानें कि ये भगवद्भक्त हैं। उनका आचरण कैसा होता है? वे बोलते कैसे हैं? कौन-सी बात विशेष रूप से बोलते हैं? किन कार्यों के करने से वे भगवान् के इतने प्रिय बन गये हैं। मेरे ऊपर अनुग्रह करके मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दें।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब योगेश्वर कवि से महाराज जनक ने ये प्रश्न किये, तब उन्होंने अपने छोटे भाई हरि की ओर संकेत किया। जब नौ भाई बैठे हैं, तो राजा के प्रश्नों का कुछ-कुछ उत्तर सभी को देना चाहिये। इसीलिये महामुनि कवि ने कहा—"राजन्! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मेरे ये छोटे भाई हरि देंगे।" यह सुनकर राजा सतृष्ण भाव से श्रद्धापूर्वक योगेश्वर हरि की

ओर देखने लगे। अब महामुनि हरि जिस प्रकार उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

पुनि नृप कह विदेह—"भागवत कैसे जानें।
हैं ये भगवद्भक्त कौन विधि तैं पहिचाने॥
सब ई देहिँ बताइ भागवत लक्षन भगवन्।
भक्त आचरन, चलन, मिलन, बोलन अरु चितवन॥
मुनि कवि भूपति प्रश्न सुनि, निरखे मुनिवर हरि जबहिँ।
समुझि बन्धु संकेत हरि, लगे देन उत्तर तबहिँ॥

योगेश्वर हरि द्वारा भगवद्भक्तों के लक्षण

[१२०२]

देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
संसारधर्मैरविमुह्यमानः
स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० २ अ० ४९ श्लोक)

छप्पय

हरि बोले—"नृप ! श्रेष्ठ भक्त हरि सबहिँ निहारे ।
अपने महँ लखि सबनि न कबहूँ असत् उचारें ॥
ये तो उत्तम भक्त मध्य कछु भेद जनावैं ।
खलनि उपेक्षा, नेह भक्त, हरि प्रेम दृढ़ावैं ॥
अधम न पूजहिँ भक्तकूँ; प्रभुहिँ न निरखें सबनि महँ ।
प्रतिमा पूजन करहिँ नित, लहैं सिद्धि कछु दिननि महँ ॥

एक ही ज्ञान को भिन्न भिन्न प्रकृति के तीन पुरुष भिन्न भिन्न रूप से धारण करते हैं। एक ही भोज्य पदार्थ को तीन प्रकृति के लोग तीन प्रकार से बनाकर खाते हैं। एक ही धन का तीन प्रकार

---

* जो मनुष्य देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि के सांसारिक धर्म जन्म-मरण, क्षुधा, भय, तृष्णा और परिश्रमादि से हरिस्मृति के विमोहित नहीं होता, वही भगवद्भक्तों में सब प्रधान भागवत है।

के लोग तीन भाँति से उपयोग करते हैं, एक ही शक्ति का तीन स्वभाव के लोग तीन कामों में प्रयोग करते हैं। साराश इतना ही है, कि पात्र भेद से वस्तुओं में भी भेद सा प्रतीत होने लगता है। श्री भगवान् तो मायिक गुणों से रहित सर्वान्तर्यामी सर्वगत हैं, तथापि त्रिगुणमय पुरुष उन्हें तीन प्रकार से ग्रहण करते हैं। उत्तम, मध्यम और अधम। तीन प्रकार के अधिकारी होने से भगवान् की उपासना के भी तीन भेद और उन तीनों के भी तीन-तीन और उन तीनों के भी असंख्यों भेद हो जाते हैं। जिसने भगवान् का आश्रय ग्रहण कर लिया है, वह उत्तम अधिकारी हो, मध्यम हो अथवा अधम आगे पीछे सभी को परमपद की प्राप्ति होगी। सभी को उनके चरणों में शरण मिलेगी।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज विदेह ने भगवद् भक्तों के सम्बन्ध में प्रश्न किये तब नवयोगेश्वरों में से जो कवि से छोटे हरि दूसरे योगेश्वर थे, वे कहने लगे—"राजन्! भगवद्-भक्तों की तीन श्रेणियाँ हैं। उत्तम मध्यम और अधम। आप इन तीनों में से किस के सम्बन्ध में पूछना चाहते हैं?"

राजा ने कहा—"भगवन्! मुझे तीनों ही प्रकार के भक्तों के लक्षण बतावें और फिर उत्तम भक्तों के सम्बन्ध में विशेष व्याख्या करें।"

यह सुनकर हरि बोले—"राजन्! उत्तम भक्त तो वे कहलाते हैं, जो सम्पूर्ण भूतों में व्याप्त आत्मा को ही देखते हैं, अर्थात् यह यज्ञदत्त है, यह देवदत्त है, यह ब्राह्मण है, यह चाण्डाल है इस ओर ध्यान ही नहीं देते। उनकी दृष्टि सदा आत्मा के ही ऊपर रहती है। सबमें अपने इष्ट को ही देखते हैं, उनकी दृष्टि में सब भगवान् के ही रूप हैं और अपने भगवत् स्वरूप में अर्थात् अपनी अन्त रात्मा में सभी प्राणियों को देखते हैं। अर्थात् मेरे अन्तर्यामी भगवान् ही सब में हैं और भगवद् रूप से जो मेरे अन्तःकरण में

विराजमान हे उनमे ही सब है। इस प्रकार जिनकी दृष्टि में भगवद्भाव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं वे ही उत्तम भगवद्भक्त हैं। वे ही सर्वश्रेष्ठ भागवत हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! मध्यम भक्त के क्या लक्षण हैं?"

इस पर योगेश्वर हरि बोले–"राजन! उत्तम भक्त तो ससार में कहो भेदभाव देखता ही नहीं। सबको भगवद्रूप आत्मरूप करके देखता है, किन्तु मध्यम भक्त की दृष्टि में कुछ भेद रहता है। ससार में तीन प्रकार के लोग होते हैं भक्त, अभक्त और अज्ञानी। मध्यम भक्त इन तीनों से तीन प्रकार व्यवहार करता है भगवान् मे उसका प्रगाढ प्रेम होता है, भगवद्भक्तों को जहाँ देखता है, अत्यन्त प्रसन्न होता है। भगवत् भक्तों को कहीं सुनता है वहीं जाता है वहाँ जाकर उनसे मित्रता करता है, उनसे अपना प्रेम सम्बन्ध स्थापित करता है। उसको आवश्यक वस्तुएँ अर्पण करता है। वे जो पचामृत भगवान का प्रसाद या अपना प्रसादी वस्त्र आदि देते हैं उन्हे श्रद्धापूर्वक सिर पर चढाकर ग्रहण करता है। अपने दुःख सुख की बातें उन्हें बताता है, उनके दुःख सुख की सुनता है। उत्सव, पर्व या वेसे ही भगवद्भक्तों को अपने यहाँ बुलाकर गोष्ठी करता है, स्वय उनके यहाँ गोष्ठी होती है तो उसमें सम्मिलित होता है। साराश यह है कि उनके साथ सौहार्द भाव रखता है। प्रत्येक बात मे आत्मीयता प्रकट करता है। किन्तु जो अभक्त हैं, भगवान से द्वेष करते हैं, शुष्क तार्किक नास्तिक हैं, उनसे न राग करता है न द्वेष, उनकी उपेक्षा कर देता है। जहाँ ऐसे वष्णवों की खिल्लियाँ उडाने वाले दिखायी दिये कि नीचा सिर करके चला जाता है। न उनसे वाद-विवाद करता है न किसी प्रकार का सम्बन्ध रखता है। सदा उपेक्षा भाव रखता है। वे कोई दो बात कह भी देते हैं, तो उन्हे चुपचाप सुन लेता है। इन भक्त अभक्त दोनों से अतिरिक्त जो तीसरे अज्ञानी हैं,

ज्ञात ही नहीं ईश्वर क्या है, धर्म क्या है, भक्ति कैसे करनी चाहिये, पूजन कैसे करना चाहिये। यद्यपि वे भगवान् के भजन के विरोधी नहीं, किन्तु भजन की प्रक्रिया जानते नहीं ऐसे अज्ञानियों पर सदा कृपा का भाव रखता है। उन्हें मन्त्र दीक्षा देता है या किसी योग्य भगवद्भक्त से दीक्षा दिला देता है। शास्त्रों में से उपदेश चुन-चुनकर उन्हें समझा देता है, लिखा देता है, बता देता है। और भी जिस प्रकार से उनकी हो सके सहायता करता है। इस प्रकार वह भक्त अभक्त और अज्ञानियों के साथ मैत्री, उपेक्षा और कृपा तीन प्रकार का वर्ताव करता है, किन्तु किसी से भी द्वेष भाव नहीं करता, वह मध्यम भक्त कहलाता है।"

राजा ने पूछा—"साधारण भक्त की क्या परिभाषा है, भगवन्!"

महामुनि हरि बोले—"राजन्! जो भगवान् के अर्चा विग्रह में तो भगवत् बुद्धि रखता है। मूर्ति पूजा तो श्रद्धा से करता है, किन्तु भगवान् के भक्तों से तथा अन्य प्राणियों से प्रेम नहीं करता वह प्राकृत भक्त है। ऐसा भक्त भगवान् के लिये तो पूजा की सामग्री यत्नपूर्वक जुटावेगा, किन्तु कोई भगवद्भक्त आ जायगा, तो उसका आदर न करेगा, ऐसे को समझना चाहिये इसने अभी भक्ति का आरम्भ किया है। इस विषय को मैं आपको दृष्टान्त से सुनाऊँ। कुछ भक्तगण हरिद्वार से गंगाजल भरकर श्रीरामेश्वर जी पर उसे चढ़ाने पैदल जा रहे थे। चलते-चलते रामेश्वर जी के निकट उन्हें एक गधा मिला। गधा प्यास के मारे तड़प रहा था। आस पास में कहीं जल नहीं था। उनमे से एक भक्त गये, उन्होंने बिना पूछे पूरा गंगाजल उसे पिला दिया। गंगाजल पीकर गधा चेतन्य हो गया। भक्त बिना ही गंगाजल के प्रसन्नतापूर्वक रामेश्वर जी को चल दिये।

आगे चलकर एक प्यासा मनुष्य मिला। उसने कहा—

"मुझे बड़ी प्यास लग रही है, यदि पानी न मिला तो मेरे प्राण न रहेंगे।" इस पर बहुतों ने कहा—"हमारे पास पानी कहाँ है, हम पर तो श्रीरामेश्वरजी पर चढाने के लिये गगाजल है।" यह कहकर वे आगे बढ़ गय। उनमे से कुछ को दया आ गयी उन्होने कहा—"इस गंगाजल में से ही थोड़ा-थोडा गगाजल सब दें। इसको कुछ शाति मिल जायगी हमारे साथ चलेगा, आगे चलकर भर पेट पानी पी लेगा। इससे इसके प्राण बच जायँगे। हमारी पूजा के लिये भी गगाजल बच जायगा।" यह कहकर सबने तनिक-तनिक गगाजल दिया। उसे पिलाकर साथ ले गये, इस प्रकार उसके प्राणों की रक्षा की।

इन भक्तो मे जिसने गधे को देखते ही आत्मभाव से सब गगा जल प्रसन्नतापूर्वक पिला दिया वह तो उत्तम भक्त है। उसने उस गधे के भीतर ही श्रीरामेश्वरजी के दर्शन किये। और श्रीरामेश्वर जी ने भी गधे के रूप मे ही उसके गगाजल को स्वीकार किया। जिन्होंने रामेश्वर जी को गगाजल रखकर कृपापूर्वक माँगने पर उस दुःखी मनुष्य पर दया दिखायी वे मध्यम भक्त हैं, उनकी दृष्टि मे कुछ भेद-भाव था किन्तु जो रामेश्वरजी के लिये भगवद्भक्त और अन्य जीवो की उपेक्षा करके केवल शिवलिग पर ही चढाने से पुण्य होगा, इस भावना से उसे बचा ले गये वे प्राकृत भक्त हैं। भक्ति करते-करते वे भी मध्यम और उत्तम हो सकते हैं। वे भक्तिभवन के रास्ते पर तो आ गये हैं। जिसने सीधा राजपथ का मार्ग पकड़ लिया है, वह चाहे शनैः शनैः चले, ठहर ठहर कर चले, कभी-न-कभी पहुँच ही जायगा। जिसने अभी यात्रा आरम्भ ही नहीं की उससे क्या आशा की जा सकती है। यह मैंने अत्यत संक्षेप मे भगवद्भक्तों की तीन श्रेणियाँ बतायी। अब आप और क्या पूछना चाहते हैं ?"

महाराज विदेह ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं श्रेष्ठ भक्तों के सबध को

विस्तार के साथ जानना चाहता हूँ, कृपा करके उत्तम भक्तों के लक्षणों को विशेष रूप से बतावें। उनकी महिमा का और अधिक वर्णन करें।"

योगेश्वर हरि बोले—"राजन! भगवद्भक्तों की महिमा का वर्णन कर ही कौन सकता है। वे तो भगवान् के ही समान होते हैं। वे संसार में रहते हुए भी संसारी भावों से पृथक् रहते हैं। उन्हे ससार का स्पर्श नहीं होता।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! ये ससारी पदार्थ सबको अपनी ओर खींचते हैं। इन्द्रियों के विषय सम्मुख आने से उन्हे भोगने की इच्छा होती है। जिह्वा के साथ मीठे का सम्बन्ध हो जाय, तो स्वाद तो आवेगा ही। और भक्तों को भी तो हम मिठाई खाते देखते हैं। क्या उन्हें इन्द्रियों के अनुकूल भोग पाकर प्रसन्नता या प्रतिकूल विषय पाकर दुःख न होता होगा?"

मुनि बोले—"राजन! पहिले दुःख सुख के ही विषय में समझ लो। एक वस्तु से किसी को सुख होता है,दूसरे को दुःख। सुख दुःख तो यह मन के मान लेने पर है। भगवद्भक्त जब तक संसार में रहता है–जब तक शरीर धारण करता है। तब तक इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण करता ही है। खाता पीता है, देखता है, सूँघता है सभी इन्द्रिय सम्बन्धी विषयों का सदाचार संयमपूर्वक उपभोग करता है, किन्तु उसका यह निश्चय सदा-सर्वदा दृढ़ बना रहता है कि यह सब भगवान् की माया है। जहाँ वह इस मन्त्र को भूल जाता है, वहीं विषयों में फँस जाता है। संसारी लोगों की जो असत् में सत् बुद्धि हो गयी है, उसको उसने भगवद्भक्ति के द्वारा मेट दिया है। उसकी दृष्टि में इन भोग्य पदार्थों में सुख नहीं, शान्ति नहीं, सत्यता नहीं। इसलिये उसे यदि इन्द्रियों के प्रतिकूल पदार्थ मिल जाते हैं, तो न तो उन्हें देखकर द्वेष ही करता है और न अनुकूल मिल जाने पर फूलकर

कुप्पा ही हो जाता है। वह अनुकूल प्रतिकूल दोनो ही दशाओ में समान भाव से रहता है। इस प्रकार जल मे रहकर कमल के सदृश निर्लेप रहने वाला भगवद्भक्त ही सर्वश्रेष्ठ है। वही उत्तम भक्त है।"

राजा ने कहा—"महाराज! यह तो बहुत कठिन है। विषयों का उपभोग करके उनके सुख दु:ख का अनुभव न करना यह असभव-सा है। महानुभाव! अग्नि को छूने पर वह गरम न लगे। यह केसे सम्भव है?"

इस पर योगेश्वर हरि बोले—"राजन! इन्द्रिया स्वतः ही विषयों का उपभोग थोडे ही करती हैं। वे तो मन के द्वारा करती हैं। आँखें रूप को देखती हैं, यह बात सत्य है, किन्तु जब आखो म मन हो, यदि मन दूसरी ओर हो, तो आँखो के खुले रहने पर भी रूप दिखायी न देगा। मन यदि दूसरी ओर हो तो रसना से कितना मीठा पदार्थ निगलो उसकी मिठास मालूम न पडेगी। देखिय, बच्चे रात म सो जाते हैं माता उन्हे उठाकर गादी म लिटाकर मीठा दूध पिला देती है। वे कटोरा भर के दूध पी जाते हैं, प्रात:काल झगडा करते हैं, हमे दूध नहीं पिलाया। दूध उन्होने पिया वह मीठा भी था, रसना के साथ उसका सम्बन्ध भी हुआ, किन्तु मन उस समय सोन की पुरतती नाडी मे छिपा हुआ था उसका रसना के साथ सम्बन्ध नहीं था। दूध स्वभाव और अभ्यास के सहारे कठ स नीचे उतर तो गया, किन्तु उसका स्वाद अनुभव नहीं हुआ। इसी प्रकार भगवद्भक्तो का मन तो हरि स्मरण म निरन्तर तल्लीन रहता है। देखिय, सती स्त्री है, उसका पति मर गया है, वह उसके साथ सती होना चाहती है, रोती नहीं, हँसती हुई शृङ्गार करती है। पति को गोदी म लेकर जलती चिता पर चढ जाती है, उसे कष्ट नहीं होता क्योकि उसका पति के साथ है। किसी का मन दूसरी ओर है, उसे क

है, तो भी पता नहीं चलता शीत उष्ण का स्पर्श इन्द्रिय से सबध होने पर भी उसके परिणाम से वंचित रहता है। भक्त तो भगवान् के साथ बना रहता है। शरीर स्वभावानुसार चलता रहता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! देह के जो सुख दुखादि धर्म हैं, वे तो उसे होते ही होंगे ?"

योगेश्वर हरि बोले—"होते क्यों नहीं देहादि के धर्म तो होते ही हैं, किन्तु उनमें वह लिप्त नहीं होता। अपने में उन सुख-दुखों का वह आरोप नहीं करता। जैसे देह का धर्म है जन्म और मरण भगवद्भक्त की देह जब तक चल रही है चले। जब अन्त होना हो हो जाय। वह अपने को देह से सदा पृथक समझता है। देखिये राजन्! एक तो वस्त्र है एक वस्त्र को पहनने वाला है। एक घर है एक घर में रहने वाला है। वस्त्र के फट जाने पर वस्त्र पहिनने वाला तो नहीं फट जाता। घर के टूट जाने पर घर में रहने वाला तो नहीं टूट जाता क्योंकि घर वाले से वस्त्र भिन्न है। इसलिये आत्मा में तो जन्म मरण है ही नहीं। शरीर जन्मता है मरता है, आत्मा से शरीर भिन्न है। भगवद्भक्त की यह धारणा दृढ़ रहती है इसलिये जन्म-मरण से उसे मोह नहीं होता। देह से सूक्ष्म हैं इन्द्रियाँ, इन्द्रियों का धर्म है परिश्रम करना थक जाना, दोषयुक्त हो जाना। जैसे आँखों से देखना बन्द हो गया, अंधे हो गये। कानों से सुनना बन्द हो गया बहरे हो गये, तो यह अंधत्व बधिरत्व अथवा अन्य विकार आदि हो जाना यह आत्मा में तो बनता नहीं। इन्द्रियों में ये सब होते हैं। भगवद्भक्त इनके कारण दुखी नहीं होता। उसे शोक नहीं होता, वह इन्द्रियों के धर्मों को अपने में मिथ्या आरोपित नहीं करता।

इन्द्रियों से सूक्ष्म हैं प्राण। प्राण दश प्रकार के होते हैं प्राण, अपान, उदान, समान व्यान, कूर्म, कृकल, धनजय, देवदत्त और नाग। क्षुधा पिपासा इनका धर्म है। देह में क्षुधा पिपासा व्याप्त हो

तो भगवद्भक्त इन्हें प्राणों के धर्म समझकर स्वय निर्विकार बना रहता है। प्राण से भी सूक्ष्म है मन। भय होना आदि मन का धर्म है। किसी सिंह ने दहाड मारा, सामने से आता हुआ एक बडा भारी लम्बा भूत दिखाई दिया। मन मे भय उत्पन्न हुआ। होता रहे। भगवद्भक्त तो सदा निर्भय रहता है। भय सदा दूसरे से होता है। आत्मा तो अद्वय है, उसमे तो भय की कल्पना ही नहीं हो सकती। जो सब मे परमात्मा को देखता है, वह भक्त किससे भय करेगा। अपने आप से कभी किसी को भय होता है क्या ?

मन से भी सूक्ष्म है बुद्धि। तृष्णा करना अधिक वस्तुओं का सग्रह करना यह बुद्धि से होता है। बुद्धि से सोचते हैं, जो वस्तु आयी है, उसे यत्नपूर्वक सग्रह कर लो। सम्भव है आगे न मिले। अधिक वस्तुएँ रहने से अधिक सुख मिलेगा। भगवद्भक्त ऐसा क्यों सोचने लगा। उसके परमात्मा तो सर्वत्र परिपूर्ण हैं, उनमें न्यूनता नहीं अतः तृष्णा आदि बुद्धि के धर्मों मे वह स्वय मोहित नहीं होता। जो देह, इन्द्रिय, प्राण, मन तथा बुद्धि के व्यापारों को अपने में आरोपित करके शोक मोह को प्राप्त नहीं होता, वही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं।

आश्चर्य के साथ महाराज विदेह ने कहा—"भगवन्! आप तो बहुत ऊची बातें कह रहे हैं। ऐसा सोच लें कि अमुक धर्म देह का अमुक इन्द्रियों का है, अमुक प्राण, मन और बुद्धि आदि का है, तब तो ससार में कोई काम ही न हो।"

हँसकर महामुनि हरि बोले—"राजन्! मैं नीची बात थोडे ही बता रहा हूँ, सबसे ऊँची बात कह रहा हूँ विषयो से इन्द्रियाँ ऊँची हैं, इन्द्रियो से मन ऊँचा है, मन से बुद्धि ऊँची है और बुद्धि से आत्मा परमात्मा ऊँचा है। मैं तो आत्म सम्बन्धी बातें बता रहा हूँ। पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश से निर्मित क्षुद्र

भौतिक वस्तुओं के सम्बन्ध मे तो मैं कह नहीं रहा हूँ। आप सोचें, संसार के सब काम कामना से होते हैं। भगवद्भक्त का चित्त तो सदा भगवान वासुदेव के चरणों मे ही फँसा रहता है। उसकी एकमात्र गति श्यामसुन्दर ही हैं। इन ससारी कामनाओं और कर्म के बीजों का, वासनाओं का उसके चित्त मे उत्पन्न होना कभी सभव ही नहीं। तो उसके लिये तो एकमात्र भगवद्भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ कार्य है। शरीर चलता रहे या नष्ट हो जाय, इसकी तो श्रेष्ठ भक्त को चिन्ता ही नहीं रहती। जिसकी ऐसी दृढ़ भक्ति है वही सम्पूर्ण भगवद्भक्तों मे श्रेष्ठ है।"

इस पर राजा ने कहा—"प्रभो! जब से मैं आपके मुख से भगवद् भक्तों के सम्बन्ध में सुन रहा हूँ, तब से मुझे ससार का स्मरण ही नहीं रहा। मेरा मन इस समय देह, इन्द्रियादिकों से ऊँचा उठकर उसी सत् पदार्थ की खोज मे लग गया है। मैं भगवद्भक्तों के सम्बन्ध मे और भी सुनना चाहता हूँ, कृपा करके भगवद्भक्तों की महिमा का और भी वर्णन करें। उनके उत्तम-उत्तम लक्षणों के सम्बन्ध की मुझे और भी विशेष बातें बतावें।"

यह सुनकर योगेश्वर हरि बोले—"अच्छी बात है राजन्! मैं तनिक देर भगवत् स्वरूप भक्तों के चरणों का स्मरण कर लूँ, फिर उन्हीं की कृपा से मैं उनकी कुछ और महिमा वर्णन करके अपनी वाणी को सफल करूँगा।"

सूतजी कह रहे हैं—"मुनियो! इतना कहकर महामुनि हरि कुछ देर के लिये ध्यान-मग्न हो गये।"

छप्पय

करै सकल व्यवहार होहि आसक्त न तबहूँ ।
समझै माया सबहिं करै नहिं सुख दुख कबहूँ ॥
जो सांसारिक धरम न मोहित तिनि महँ होवै ।
हँसै न लखि अनकूल निरखि प्रतिकूल न रोवै ॥
जनम, करम, आश्रम, वरन, जाति भेद मनतैं तजैं ।
ते ई भगवद्भक्त वर, प्रेम सहित प्रभु कूँ भजैं ॥

परम भागवतों के लक्षण

[१२०३]

त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्ठ-
स्मृतिरजितात्मसुरादिभिर्विमृग्यात् ।
न चलति भगवत्पदारविन्दा-
ल्लवनिमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० २ अ० ५३ श्लो०)

छप्पय

परम भागवत मैं मेरी महँ नाहिँ भुलावैं ।
हरि सुमिरन के हेतु राज वैभव ठुकरावैं ॥
सुमिरन निशि दिन करें नहीं प्रभु पद बिसरावैं ।
समदरशी बनि जायँ, परमपद तबई पावैं ॥
पल पल सेवहिँ हरि चरन, शरन गहैं सब कछु सहैं ।
तिनिकूँ ऋषि मुनि वेदवित, भक्त मुकुटमनि वर कहैं ॥

जिस वस्तु के लिये जितना ही बड़ा त्याग किया जायगा, *उस वस्तु का उतना ही बड़ा महत्व समझा जाता है । किसी पर*

---

* श्री शुकदेवजी कहते हैं—' राजन् ! जिनका त्रिभुवन का वैभव पाने पर भी भगवच्चिन्तन नहीं छूटता । भगवान् के उन पाद पद्मों की परचर्या से जो आधे पल भर को भी पृथक् नहीं होते, जिनकी खोज भगवान् में मन लगाये देवता आदि भी करते रहते हैं, ऐसे ही निष्ठावान् भक्त वैष्णवों में अग्रणी हैं । '

छोटा-सा घोड़ा है, उससे कहा जाय तुम घोड़े को दे दो इसके बदले में हाथी ले लो। यदि वह घोड़े को देकर हाथी स्वीकार करता है, तो उसकी दृष्टि में घोड़े से बड़ा हाथी है। छोटी वस्तु के बदले में बड़ी वस्तु पाने की सबकी इच्छा रहती है। भक्त की दृष्टि में भगवान् सबसे बड़े हैं। भगवान् के लिये वह सर्वस्व त्याग सकता है। जिन वस्तुओं को संसारी लोग महान् समझते हैं, उसकी दृष्टि में भगवत् स्मरण के सम्मुख वे नगण्य हैं, कुछ भी नहीं हैं। जिसने भगवान् की इतनी महत्ता को समझ लिया है, वही परम भागवत् है वही सच्चा भगवद्भक्त है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! योगेश्वर हरि राजा जनक के पूछने पर भगवद्भक्तों के लक्षण बता रहे हैं। उन्होंने कहा—"राजन्! एक राग को सहस्र बार लाख बार कहने से—अभ्यास करने से—हृदयंगम हो जाता है, फिर वह सपने में भी नहीं भूलता। बालक जब जन्म लेता है, तब उसे नाम, गाँव, सम्बन्ध जाति का कुछ भी अहंकार नहीं रहता। उस समय न उसका अपना कोई नाम है, न जाति, न किसी से कोई सम्बन्ध। माता पिता के सम्बन्ध से उसके बहुत से सम्बन्धी बना दिये जाते हैं, उसका एक नाम रख दिया जाता है, उसकी माता-पिता की जाति से जाति स्थिर कर दी जाती है। एक आदमी को बता दिया जाता है—"यह तेरा चाचा है, अब निरन्तर चाचा चाचा कहते कहते उसे ऐसा अभ्यास हो जाता है, कि बड़ा होने पर वह इस बात को भुला नहीं सकता। इसी प्रकार देवदत्तशर्मा, यज्ञदत्त वर्मा, विश्वमित्र गुप्त, गोवर्धनदास ऐसे नाम रख दिये जाते हैं। निरन्तर कहते कहते अपने में इन सबका ऐसा अभ्यास हो जाता है, कि मृत्यु पर्यन्त ये संस्कार नहीं छूटते और इन्हीं के कारण पुनः पुनः जन्म लेना पड़ता है। निरन्तर के अभ्यास से इस शरीर में आत्मबुद्धि हो जाती है, मैं मेरा तू तेरापन इतना

दृढ़ हो जाता है, कि इस शरीर को ही मैं समझने लगता है। जैसे 'मेरा घर' मेरा वस्त्र, इन शब्दों के कहने से मैं भिन्न हूँ घर तथा वस्त्र भिन्न हैं। इसी प्रकार 'मेरा शरीर' मेरी इन्द्रियाँ, मेरा मन, मेरी बुद्धि आदि कहने से 'मैं' इन शरीर इन्द्रियों तथा अन्तःकरण से भिन्न है किन्तु अज्ञानवश इस शरीर में ही अहं भाव दृढ़ हो जाता है। भक्त का भगवद्भक्ति करते-करते यह अज्ञान दूर हो जाता है, यह अज्ञान जिसका जितनी ही मात्रा में अधिक दूर हो जाता है, वह उतना ही अधिक बड़ा भक्त है। जिस भगवद्भक्त को मेरा शरीर प्रसिद्ध कुल में जन्मा है, मैं यज्ञयाग आदि बड़े बड़े सत्कर्म करता हूँ, मैं श्रेष्ठ वर्ण का हूँ, उत्तम आश्रम का हूँ, उच्च जाति का हूँ। इस कारण मैं ही सब कुछ हूँ, मैं ही सर्वश्रेष्ठ हूँ। इस प्रकार की मिथ्या अहंकृति नहीं होती इन्हीं कारणों से जिसे देह में अहंभाव नहीं होता, वही भगवान् का प्रिय है, वही सबसे श्रेष्ठ भक्त है।"

राजा ने कहा—"महाराज! ऐसी स्थिति कैसे हो। जाति, वर्ण, आश्रम कुल तथा धन आदि का अहंकार तो हो ही जाता है।"

महामुनि हरि बोले—"हाँ हो तो जाता ही है, किंतु इसे हटाने का ही नाम तो साधन है यह हटता है समदर्शीपने के विचार से। पहिले अपने पास जो सुवर्ण हो धन हो, उसे हाथ में उठावे। सोचे, इसे मैं अपना कहता हूँ, इसमें मेरापन क्या है, मुझे यह धन पिताजी से मिला। पिताजी सुनार के यहाँ से लाये, सुनार के हाथों अमुक ने बेचा। अमुक इसे राजा के यहाँ से चुरा कर लाया था। कितनों ने इसे मेरा मेरा कहा। जब यह इतनों का नहीं हुआ, तो मेरा क्या होगा। अतः इसमें से ममत्व को छोड़ना चाहिये। विष्णुमित्र का शरीर कितना सुन्दर था। उसे अपनी सुन्दरता का कितना अभिमान था। शरीर को वह तैल उबटन लगाकर कितना, सजाता बजाता था, नाना प्रकार की वस्तुएँ खाकर

उसे कितना पुष्ट रखता था। अन्त मे उसके शरीर म घाव हो गये,कीडे पड गये दुर्गन्ध आने लगी। शरार को छोड गया,हमने उस अग्नि मे जला दिया। उसकी खोपडा अब भी गगाजा की वालू म पडी है। पहिले बडे गर्व स कहता था, मेरा मस्तक इतना चौडा है, इतना विशाल है, अब उस विशाल मस्तक को कुत्ते गादड इधर स उधर खीचत हैं। लोग ठोकरे मार रहे हैं। जब उसका इतना सुन्दर शरीर उसके साथ नहीं गया, ता मैं इस नाशवान् शरीर म अपनापन क्यो स्थापित करूँ, अमुक के शरार का पराया क्यों समझूँ। शरीर शरार सब एकस हैं। सभी वे ही रस, रक्त, मास, मज्जा, मेद, अस्थि तथा शुक्रादि धातुएँ हैं। आत्मा सब मे एक है। इस प्रकार के निरन्तर विचार करने से जिसका धन में से, शरार मे स अपन परायेपन का भदभाव दूर हो गया है, जो सभी प्राणियों म परमात्मा के दशन करता है ऐसे समदर्शा शान्त चित्त पुरुष का देह म अहभाव नही रहता, वही यथार्थ मे सब भगवद्भक्तो मे श्रेष्ठ है, वही परम-भागवत है।

राजा ने कहा—"महाराज! हम आप परम भगवद्भक्त की एक कसोटी बता दें। जिस पर कसकर हम यह निर्णय कर सके कि यह भक्ताग्रगण्य है?"

महामुनि हरि बोले—"राजन! ऐसी कसोटी तो मेरे पास कोई नहीं। भगवद्भक्ति का परिचय कुछ ऊपरी वेप भूपा को देखकर तो होता नहीं। वह तो अन्त करण की स्थिति के ऊपर निर्भर है। जिसका मन जितना ही भगवच्चिन्तन म तल्लीन रहेगा, वह उतना हो श्रेष्ठ भक्त है। जो यथार्थ म भगवान् का भक्त है, उससे यदि कहा जाय, कि त्रिभुवन का जितना भी राज्य है, जितना भी वैभव है, उस सबको हम आपको दिये देते हैं, किन्तु आप कृपा करके भगवत् चिंतन को छोड दीजिये। सदा को न

छोड़े तो आधे क्षण को ही छोड़ दीजिये। आधे पल के लिये प्रभुपादपद्मों को भुला दीजिये, किन्तु जो इसे स्वीकार नहीं करता। स्वप्न मे भी जिसका मन इतने धन वैभव की बातें सुनकर विचलित नहीं होता, वही भक्ताग्रगण्य है, वही श्रेष्ठतम भागवत है, यही उसके भक्त होने की कसौटी है।"

यह सुनकर राजा कुछ देर तक सोचते रहे और फिर बोले—"भगवन्! आप बात तो बड़ी सुन्दर कह रहे हैं। अन्तःकरण भी इसे स्वीकार करता है, किन्तु ये संसारी संताप इतने प्रबल हैं, कि मन विचलित हो ही जाता है। जब भी भीषण दुःख पड़ते हैं, तो सब ज्ञान ध्यान भूल जाता है, यह संसार सत्य ही दिखाई देने लगता है।"

यह सुनकर बड़े आवेश के साथ योगेश्वर हरि कहने लगे—"राजन्! आप कैसी बात कह रहे हैं, ये बातें तो अधकचरे लोगों के सम्बन्ध में हैं। जिन्हें शब्द ज्ञान तो हो गया है, यथार्थ ज्ञान नहीं हुआ। जिन्होंने प्रभुकृपा का पूर्ण अनुभव प्राप्त नहीं किया। राजन्! सब पैर हाथी के पैर में समा जाते हैं। हमारे श्यामसुन्दर के पैर तो हाथी के पैरों से भी बड़े हैं। उन्होंने तो दो डगों में ही त्रिभुवन को वामनरूप से नाप लिया था। राजन्! एक छोटा-सा दीपक घर मे रख देते हैं तो उस घर का अन्धकार भाग जाता है। जिसके अन्तःकरण में बलि को छलने वाले वामन भगवान् के इतने बड़े-बड़े चरण स्थापित हो जायँ और उसमें एक दो नहीं पूरे दश नखरूप मणियों का दिव्य सुन्दर शीतल प्रकाश फैल जाय तो उनकी दिव्यकान्ति के सम्मुख आप ही सोचें अज्ञान अन्धकार कैसे रह सकता है? काम क्रोधादि का संताप वहाँ अपना प्रभाव कैसे स्थापित कर सकता है। यह काम रूपी प्रचड सूर्य तो तभी तक संताप पहुँचा सकता है जब तक शीतल किरणों वाले चन्द्रदेव

उदित न हों, जहाँ शीतल राशि चन्द्र उदित हो गये, वहाँ क्या सूर्य का संताप ठहर सकता है ? भगवान् के अन्तःकरण में आने की ही देरी है, जहाँ वे हृदय में आ गये, जहाँ उन्होंने अपना आसन जमा लिया, तहाँ सभी शोक संताप, अज्ञान तथा मोह आदि भग जाते हैं। जैसे सिंह की दहाड़ सुनकर ही शृगाल भग जाते हैं, वैसे ही भगवान् के चरणों की जहाँ चमक दिखायी दी, वहाँ सभी कामादि चोर भाग जाते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज ! भगवान् हृदय में आवें तब तो ? वे तो बड़े नटखट हैं। वे हम पापियों पर कृपा क्यों करने लगे ? वे हमारे मलिन अन्तःकरण में क्यों आने लगे ?"

महामुनि हरि ने कहा—"राजन् ऐसी बात नहीं। भगवान् बड़े कृपालु हैं। देखिये, अजामिल ने अवश होकर–यमदूतों से डरकर नारायण नामक अपने पुत्र को पुकारा, नारायण नाम सुनते ही भगवान् ने अपने दूतों को भेजा और उसके सम्पूर्ण पिछले पापों को नाश कर दिया। गणिका सूआ को राम-राम पढ़ाती थी। राम नाम जपने की उसकी भावना नहीं थी, किन्तु कैसे भी सही राम के नाम का उच्चारण करती थी, उसे भी केवल नाम उच्चारण के ही सहारे भगवान् ने सद्गति दे दी। जो भगवान् इतने कृपालु हैं, जो विवश होकर नाम उच्चारण करने वाले के भी सम्पूर्ण पाप समूहों को ध्वंस कर देते हैं, वे क्या प्रेम से बुलाने से दौड़े न आवेंगे ? क्या वे परम कृपालु प्रेम के पास में फसकर हमारे हृदय में निवास न करेंगे ? भगवान् को पूजा की सामग्रियों की भूख नहीं, वे तो सदा प्रेम के भूखे बने रहते हैं। जहाँ प्रेम देखते हैं, वहीं बँध जाते हैं। भक्त गण अपने प्रेम की दृढ़ रस्सी से उनके चरणारविन्दों को दृढ़ता से बाँध लेते हैं, वे भी ऐसे भोले भाले हैं, कि प्रसन्नतापूर्वक बँध जाते हैं और उन भगवद्भक्तों के हृदय को कभी त्यागते नहीं। ऐसे

दयालु कृपालु प्रभु को जिन्होंने अपने प्रेम के फंदे में फँसा लिया है, वे ही परम भागवत हैं, वे ही श्रेष्ठ भगवद्भक्त हैं, वे ही प्रपन्न हैं वे ही भक्ताग्रगण्य हैं। राजन्! यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में परम भागवत भगवद्भक्तों की कुछ महिमा कही। अब आप क्या पूछना चाहते हैं?"

योगेश्वर हरि की बात सुनकर महाराज जनक कहने लगे—"भगवन्! मैं संसारी सन्तापों से संतप्त एक अत्यन्त ही दीन-हीन मरणधर्मा मनुष्य हूँ। मैं रोगी हूँ आप उत्तम अनुभवी वैद्य हैं। मैं भवरोग रूपी ज्वर में पड़ा तप रहा हूँ, आपके पास हरि कथा रूप अमृतमयी अव्यर्थ अति उत्तम ओषधि है। कृपा करके उस मधुर-मधुर ओषधि को मुझे भर पेट पिला दें। आप जो चुल्लू-चुल्लू भर दे रहे हैं, इससे मेरी तृप्ति नहीं होती, अपितु तृष्णा और बढ़ती जाती है।"

यह सुनकर योगेश्वर हरि बोले—"राजन्! आप जो भी पूछेंगे, उसी का हम उत्तर देंगे। आप पूछना क्या चाहते हैं?"

राजा ने कहा—"भगवन्! आपने कइ बार 'भगवान् की माया' 'भगवान् की माया' ये शब्द कहे। आपने भगवान् की माया की महिमा भी बहुत बतायी, वास्तव में यह माया है भी बड़ी प्रबल यह बड़े-बड़े मायावियों को भी मोहित कर लेती है। उस भगवान् की माया के ही विषय में मैं जानना चाहता हूँ। कृपा करके आप उस माया का ही वर्णन कीजिये।"

यह सुनकर योगेश्वर हरि हँस पड़े और कहने लगे—"राजन! माया का क्या वर्णन करें। फिर भी मेरे ये छोटे भाई अन्तरिक्ष इस विषय में आपको उपदेश देंगे। माया की व्याख्या करने में ये ही निपुण हैं, ये ही आपके इस प्रश्न का उत्तर देंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब योगेश्वर हरि ने अपने छोटे अन्तरिक्ष की ओर संकेत किया, तो राजा अत्यन्त नम्रता के

साथ अन्तरिक्ष की ओर निहारने लगे। अब महामुनि अन्तरिक्ष जिस प्रकार महाराज विदेह को माया का स्वरूप बतावेंगे, इसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

बोले मैथिलभूप—नाथ! मम रोग मिटाओ।
कृष्ण कथामृत मधुर सरस कछु अधिक पिआओ॥
होहि न मेरी तृप्ति चारु प्रभु चरित सुनावें।
माया अति बलवती बताई तिहि समुझावें॥
अन्तरिक्ष बोले तबहिँ, त्रिगुनमयी माया प्रबल।
सर्ग स्थिति लयकरिनी, सृजति वायु, भू, जल, अनल॥

—※—
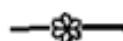
योगेश्वर अन्तरिक्ष द्वारा भगवान् की माया का वर्णन

[१२०४]

एषा माया भगवतः सर्गस्थित्यन्तकारिणी ।
त्रिवर्णा वर्णितास्माभिः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० १६ श्लो०)

छप्पय

हरि स्वरूप निज जीव भोग अरु मोक्ष करन कूँ।
पंचभूत तैं रचे दीर्घ अरु लघु प्रानिन कूँ॥
तिनि सब महँ प्रभु प्रविशि करन, मन बनि भोगनि कूँ।
भोगी ह्वै आसक्त आतमा मानैं इन कूँ॥
करम वासना युक्त ह्वै, कें भटकै ससारमहँ।
पुनि पुनि जनमैं पुनि मरैं, परयो प्रवाह असारमहँ॥

भगवान् नित्य, शुद्ध, बुद्ध, अज, अव्यक्त, विकार रहित तथा शाश्वत हैं। उनमें वृद्धि नहीं। ह्रास नहीं, अपचय नहीं, उपचय नहीं वे सदा एक रस रहने वाले हैं, आप्तकाम हैं, आत्म क्रीड़ा हैं। आनन्द स्वरूप हैं, उन्हें आनन्दानुभव करने के निमित्त अन्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं। फिर भी वे

---

* योगेश्वर अन्तरिक्ष महाराज जनक से कह रहे हैं—"राजन्! जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली यह भगवान् की त्रिगुणमयी माया ही है। यह हमने आपसे उस माया का वर्णन किया, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं?"

अपनी माया का आश्रय लेकर इस ससार का रचना करते हैं और एक रूप से अनेक रूप होकर नाना भाँति की क्रीडा करते हैं। जो खेल को खेल समझ लेते हैं, व हँस जाते हैं, जो खेल को सत्य समझ लेत हैं, वे ही माया क चक्कर में फँस जाते हैं। बिना माया का स्वरूप जाने भगवान् जाने ही नहीं जाते।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने योगेश्वरों से माया के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब तो योगेश्वरों में से अन्तरिक्ष कहने लगे—"राजन्! आपने मुझसे प्राणियों को मोहित करने वाली माया के सम्बन्ध में प्रश्न किया, अब मैं माया के सम्बन्ध में क्या बताऊँ। जो वास्तविक न होने पर भी भास वही माया है, तुम जिस दृश्य प्रपञ्च को देख सुन और अनुभव कर रहे हो, यह सब मायिक है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! भगवान् ने इस प्रपञ्च की रचना की ही क्यों?"

अन्तरिक्ष बोले—"जीवों के भोग के निमित्त तथा मोक्ष के निमित्त ही भगवान् ने इस प्रपञ्च की रचना की।"

राजा ने कहा—"जीव क्या महाराज!"

अन्तरिक्ष बोले—"कर्म फलों को खाने की इच्छा वाले तीन देह के अधिष्ठातृदेव भगवान् के चेतन्यांश का नाम जीव है। उसे अविद्या के सम्बन्ध से अनादि बन्धन की प्राप्ति होती है और विद्या से मोक्ष की। इसी जीव को खेल खिलाने के लिये बन्ध मोक्ष का नाटक करने के निमित्त-इस दृश्य प्रपञ्च का सृजन श्याम सुन्दर करते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! ससार में तो असख्यों अगणित प्राणी हैं, इन सबको भगवान् केसे बनाते हैं, इस चित्र विचित्र जगत् का भगवान् केसे बैठे बैठे बनाते रहते होंगे?"

मुनि बोले—"राजन्! आप जितने देहधारी देखते हैं, देवता

ऋषि मुनि, प्रजापति, तथा ब्रह्मा आदि के सम्बन्ध मे सुनते हैं, सबका शरीर पाँच भूतों से बनने के ही कारण इसका नाम प्रपञ्च है। उन आदि देव सर्वभूतात्मा श्रीमन्नारायण ने ही अपने रचे पञ्चभूतों से छोटे और बडे से बड़े उत्कृष्ट से उत्कृष्ट और निकृष्ट से निकृष्ट प्राणियों की सृष्टि की है कीटाणु से ब्रह्म पर्यन्त सब उन्हीं का माया का विलास है।"

राजा ने कहा—"ये पञ्चभूतो से निर्मित शरीर जड हैं या चेतन्य ?"

मुनि ने कहा—"पञ्चभूतों का जितना पसारा है सब जड है।"

राजा ने कहा—"तब जड मे चेतन्यता कैसे आ गयी ?"

मुनि बोले—"राजन्! इन पञ्च महाभूतों से रचित छोटे बड़े सभी प्राणियों मे वे प्रभु ही जीव रूप से प्रवेश कर जाते हैं।"

राजा ने कहा—"फिर उपभोग कैसे करते हैं, शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये तो जड हैं, इन विषयों का उपभोग करने वाली श्रोत्र, चक्षु रसना, घ्राण और त्वचा आदि इन्द्रियाँ भी जड हैं, जड़ का जड उपभोग कैसे करेगा।"

मुनि बोले—"देखिये, राजन्! चेतन्यांश जीव रूप से ही भगवान् ग्यारह रूपो में–एक मन और दश इन्द्रियों मे–विभक्त होकर–विषयो का उपभोग करते हैं। यह सत्य है इन्द्रियाँ प्रकाश हीन जड हैं किन्तु उन्हे आत्मा से प्रकाश प्राप्त होता है, आत्मा द्वारा प्रकाशित इन्द्रिया से ही जीवात्मा तत् तत् इन्द्रियो के विषयों का उपयोग करता है। उपभोग करने से जीवात्मा अनादि अविद्या के कारण इस पञ्चभूतों से निर्मित शरीरादि को ही आत्मा मान लेता है। इसी मे इसको आसक्ति हो जाती है। जेसे कोई घोडे पर चढकर काशी को चला। मार्ग मे उसे सुन्दर फलों से युक्त से वन उपवन मिले, उनमे उसने मधुर लगने वाले फल खाये। फल खाते-

खाते वह काशी जाना तो भूल गया। फलो का स्वाद लेना ही उसने मुख्य ध्येय मान लिया। अब एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष के नीचे जाता है, फल चखकर दूसरे वृक्ष क फलो की इच्छा करता है। इस प्रकार लक्ष्य भ्रष्ट होकर इधर से उधर भटकता रहता है।"

राजा ने कहा—"इन्द्रिया के विषयो से तो जीव का कोई सम्बन्ध नहीं, फिर वह उनमें वध क्यों जाता है।"

हँसकर अन्तरिक्ष मुनि बोले—"राजन्! सम्बन्ध किसका किसके साथ है। सम्बन्ध तो मन के मानने से जुड जाता है। एक व्यक्ति किसी देश मे उत्पन्न हुआ, दूसरा दूसरे देश मे। उनकी जाति भिन्न, धर्म भिन्न, रूप रग रहन सहन भिन्न, फिर भी मित्रता हो जाती है। एक दूसरे के सुख-दु ख को अपना समझने लगते हैं। लडकी कहीं उत्पन्न हुई लडका कहीं उत्पन्न हुआ। दोनों सम्बन्ध जोडकर अपने को पति-पत्नी मान लेते हैं। एक के दुखी होने से दूसरा दुखी होता है, एक के सुखी होने से दूसरा सुखी। धर्म कार्य भी करेंगे, तो दोनो गाँठ बाँध कर करेंगे, इसी प्रकार जीव ने शरीर को ही आत्मा मान लिया है, कर्मेन्द्रियों से वासनायुक्त होकर कर्म करता है, उनसे जो सुख-दु ख होता है, उन्हें अपना किया हुआ मान लेता है। जब कर्ता बनेगा, तो उस का फल भी भोगना ही पडेगा इसीलिये अपने किये हुए कर्मों का फल भोगने के लिये एक योनि से दूसरी योनि मे दूसरी योनि से तीसरी योनि मे ऐसे ही घूमता हुआ चौरासी के चक्कर मे भटकता रहता है और तब तक भटकता रहता है जब तक यह सृष्टि है।"

राजा ने पूछा—"यह सृष्टि भगवन्! कैसे हुई।"

मुनि बोले—"राजन्! यह सम्पूर्ण सृष्टि भगवान् की त्रिगुण मयी माया के द्वारा ही हुई। जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ये तीनों माया मे ही सम्भव है, कर्म फलो के क्षोभ से प्रकृति की

साम्यावस्था में विकृति हुई। उससे महत्तत्व की उत्पत्ति हुई, महत्तत्व से अहंतत्त्व उत्पन्न हुआ। अहंतत्त्व के सात्विक, राजस और तामस तीन भेद हुए इस त्रिविध अहङ्कार से ही, पंचभूत, दश इन्द्रियाँ, दशों इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव, मन तथा बुद्धि आदि की उत्पत्ति होती है। इन सबसे सम्पूर्ण सृष्टि होती है। काल की प्रेरणा से सृष्टि होती है। जब तक सृष्टि का काल रहता है, तब तक उत्पन्न हुई सृष्टि स्थित रहती है उसमें सुख दुःख जन्म मरण, युद्ध, व्यापार आदि अनेक कार्य होते रहते हैं। समय आने पर सृष्टि की प्रलय हो जाती है जहाँ से सृष्टि निकली थी, वहीं विलीन हो जाती है। यह सब भानुमती का पिटारा है। जब चाहती है, पिटारे में से वस्तुओं को निकाल-निकालकर सजा देती है। अपने प्रियतम को उन सब वस्तुओं को दिखा-दिखाकर रिझाना चाहती है। जब पति का रुख देखती है, तब सबको समेटकर पिटारे में बन्द करके तान दुपट्टा सो जाती है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! आपने उत्पत्ति और स्थिति की बातें तो संक्षेप में सुना दी, किन्तु प्रलय कैसे होती है, यह बात नहीं सुनायी। कृपा करके प्रलय के सम्बन्ध में और बतावें।"

महामुनि अन्तरिक्ष बोले—"राजन्! प्रलय के सम्बन्ध में क्या बताना जैसे उत्पत्ति हुई उसके विपरीत प्रलय हो गयी। जैसे कछुए ने मुख निकाला वैसे ही बन्द कर लिया। अन्तर इतना ही है, निकालते समय उसका अग्रिम भाग पहिले निकला था, संकोच करते समय उसका पिछला भाग पहिले सिकुड़ा। जिस क्रम से सृष्टि उत्पत्ति हुई उसके विपरीत क्रम से प्रलय हो गयी।"

राजा ने कहा—"तो भी भगवन्! प्रलय का नियम तो बताइये।"

योगेश्वर अन्तरिक्ष बोले—"अच्छी बात है सुनिये। जो अधिक स्थूल होता है, वह अपने कारण सूक्ष्म में मिलता जाता

प्राणों को खींच लेते हैं। सूक्ष्म प्राण निकल जाते हैं स्थूल देह पड़ा रह जाता है। देह के पाँचों भूत अपने-अपने कारणों में मिल जाते हैं। प्रलय काल में पृथ्वी की मृत्यु कैसे होती है ?"

मुनि बोले—"राजन् ! जब प्रलय काल आता है तो सौ वर्षों तक वर्षा ही नहीं होती। प्राणियों का जीव जल ही है। बिना जल के अण्डज, पिण्डज, स्वेदज और उद्भिज अर्थात् मनुष्य, पशु पक्षी, जूएँ, कीड़े मकोड़े पेड़ सभी जल जाते हैं। उनके शरीर में जितना जल होता है, उसे सूर्य खींच तो लेते हैं, किन्तु वर्षा काल में बर्षाते नहीं। अब स्थिति के समय में तो यह होता है कि सूर्य आठ महीनों तक तो समुद्र, कुँआ, नद, नदी और सभी प्राणियों के शरीरों से अपनी किरणों द्वारा जल खींच लेते हैं और वर्षा के चार महीनों में उस खींचे हुए जल को बरसा देते हैं। इससे सभी प्राणी सुखी होते हैं। प्रलय का समय समुपस्थित होने पर सौ वर्षों तक जल को खींचते तो रहेंगे। बरसेंगे एक बूँद भी नहीं। इसलिये सब पृथ्वी सूख जायगी नीरस हो जायगी। वर्षा न होने से उष्णता बढ़ती है। जब सौ वर्षों तक वर्षा न होगी, तब सूर्य की उष्णता अत्यन्त बढ़ जायगी। तीनों लोक तपने लगेंगे।

भगवान् अपने एक अंश से तो इस जगत् रूप में फैले हुए हैं शेष अंश से पाताल के नीचे बैठे हुए इस भूमण्डल को थामे हुए हैं। भगवान् के शेष अंश को मनीषी नाग कहते हैं। क्योंकि वह कहीं आता जाता नहीं स्थिर रहता है। अधिक उष्णता बढ़ने से शेषनाग के भी मुख से अग्नि की लपटें निकलने लगती हैं। पृथ्वी निर्जीव हो जाती है। पृथ्वी का प्राण गन्ध है। पृथ्वी से गन्ध निकल जाती है। शेष के मुख से निकलती हुई ज्वालामुखी की लपटें पृथ्वी की समस्त वस्तुओं को जलाकर भस्म कर देती हैं। अर्थात् पृथ्वी के शरीर का दाह संस्कार हो जाता है। जैसे

शरीर को जलाकर जिसकी भस्म को जल मे प्रवाहित करते हैं, वैसे ही भस्मीभूत पृथ्वी का राख को प्रवाहित करने सवर्तक नामक मेघ आते हैं। उन सवर्तक नामक मेघो का काम ही यह है कि सृष्टि के अन्त में जब पृथ्वी का मृत्यु हो जाय, तो उसकी भस्म को बहा देना। क्योंकि जल पृथ्वी का पिता है नियमानुसार पुत्र को पिता का दाह सस्कार करना चाहिये, किन्तु प्रलय मे तो सभी काम उलटा ही होता है, अतः पिता जल अपनी पुत्री पृथ्वी की भस्म को बहा देता है। प्राणो का खींचने वाले वायु पृथ्वी के प्राणो को उसके पिता जल का देते है। हाँ, तो वे सवर्तक नामक मेघ सो वर्षा तक वर्षा करत रहत है। वह वर्षा साधारण नहीं होती। हाथी की सूँड क समान मोटी-मोटी धाराओ स वे प्रलयकालीन मेघ निरन्तर बरसत ही रहते हैं। उस वर्षा से समस्त ब्रह्माण्ड जलमग्न हो जाता है। अब चारों ओर जल का ही साम्राज्य हो जाता है।"

राजा ने पूछा—"महाराज ! जल का मृत्यु नहीं होती ?"

हसकर महामुनि अन्तरिक्ष बोले—"क्यों, जल की मृत्यु क्यों नहीं होती ? जो जनमा है वह मरेगा। जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है।"

जब जल के भी मरने का काल आ जाता है, तो वायु देव उसके भी रस रूप प्राणो को खींच लेते हैं। अग्निदेव जल को भी जलाकर भस्म कर देते है। बाप ने बेटे को जला दिया। अब जल का ही अस्तित्व न रहा तो जल की भस्म को प्रवाहित किसमें करें, अतः जल अग्नि रूप हो जाता है। केवल चारो ओर तेज ही तेज व्याप्त हो जाता है। इस प्रकार पृथ्वी और जल दो की मृत्यु हो गयी। रह गया अग्नि और उसका प्राण तेज। वायुदेव अन्धकार के द्वारा अग्नि के प्राण तेज को भी नाश कर देते हैं। तेज वायु मे मिल जाता है, अब जलाने का या प्रवाह करने का तो

काम ही नहीं रहा। पृथ्वी, जल और तेज तीनों का नाश हो गया। अब रह गया अन्धकारमय वायु का बवंडर।

वायु तो आकाश का पुत्र है। आकाश ने सोचा यह वायु सबको खींच-खींचकर मारता था, सबके प्राण हरता था, इसके प्राणों को मैं हरूँ। जो जैसा करेगा वैसा भरेगा। जो दूसरों के लिये ग्वाईं खोदेगा उसके लिये कुँआ प्रथम ही तैयार रहेगा। यही सोचकर आकाश ने वायु का स्पर्श गुण हर लिया। स्पर्श हीन हुआ मृतक वायु शांत हो गया। अब न बवंडर न झंझावात। सर्वत्र शान्ति छा गयी। आकाश ही परिपूर्ण रहा। किन्तु आकाश के प्राण हैं शब्द। आप एकान्त में शान्तचित्त होकर कान बन्द करके बैठें तो भी आपको शब्द सुनाई देगा। इसलिये संसार में केवल शब्द ही शब्द भर गया।"

राजा ने पूछा—"महाराज! आकाश का कोई पिता नहीं था। वह उसे निगल जाता।"

मुनि बोले—"राजन्! एक परम पिता परमात्मा का तो कोई पिता है नहीं। क्योंकि वे चराचर जगत् के पिता हैं और नहीं तो सबके पिता हैं। ये पाँचों भूत तामस् अहंकार से क्रमशः उत्पन्न हुए हैं। अतः आकाश का पिता तामस् अहंकार है। अतः आकाश तामस् अहंकार में विलीन हो जाता है। इस प्रकार स्थूल जगत् का नाश हो जाता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! स्थूल जगत् तो पंचभूतात्मक है, इसके नाश होने पर सूक्ष्म जगत् की वस्तुएँ तो बच जाती होंगी?"

मुनि ने कहा—"राजन्! मैं बार-बार तो बता चुका हूँ, सूक्ष्म हो या स्थूल जिसकी उत्पत्ति है उसका विनाश है। तामस् अहंकार से भूतों की उत्पत्ति हुई थी अतः भूतों का वृद्धप्रपितामह आकाश अपने सम्पूर्ण परिवार को बटोरकर अपने पिता तामस् अहंकार में विलीन हो जाता है। इन्द्रियों की उत्पत्ति राजस्

अहकार में हुई थी। जब भोगन को विषय ही न रहे, करने को कर्म ही न रहे, तो बिना भोजन के इन्द्रियाँ अपने पिता राजस् अहंकार में मिल जाती हैं। दश इन्द्रियों के जो दश अधिष्ठातृदेव थे और इन्द्रियों का राजा मन था वे सब सात्विक अहकार में विलीन हो गये। अहकार के सात्विक, राजस् और तामस् ये तीन गुण थे, इन तीनों गुणों के सहित अहकार महत्तत्व में विलीन हो गया। महत्तत्व प्रकृति में—अपने स्वभाव में—मिल गया। यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ब्रह्माजी का शरीर ही था। उन्हें ही विराट् पुरुष कहते हैं। जब उनका शरीर ही न रहा—जब व्यक्त जगत् ही न रहा—तो वे अपने कारण सूक्ष्म स्वरूप अव्यक्त में मिल गये। खेल समाप्त हो गया।

राजा ने कहा—"महाराज! जब प्रलय हो जाती होगी, तब जीव जन्म मरण के चक्कर से मुक्त हो जाते होंगे?"

मुनि बोले—"नहीं राजन्! यह बात नहीं। जब तक प्रलय का समय रहता है, तब तक सब जीव अव्यक्त के शरीर में चुपचाप सोते रहते हैं। जहाँ फिर सृष्टि हुई, तहाँ सब फिर अपने अपने कर्मों के फल भोग में लग जाते हैं, फिर उन उन योनियों को प्राप्त होकर कर्म करने लगते हैं।

राजा ने कहा—"महाराज! इतने दिन अव्यक्त में रहने पर भी उन्हें ने सब याद कैसे रहे?"

हँसकर अन्तरिक्ष मुनि बोले—क्यों राजन्! भूलने की कौन सी बात है। हम भागवती कथाओं का एक अध्याय पढकर सो जाते हैं। दूसरे दिन उठते ही अध्याय को पढने लगते हैं। ऐसा तो नहीं होता, कि जो आज पढा सोने पर सब भूल गये और कल से फिर वहीं से आरम्भ किया। सर्वज्ञ भगवान् को तो सबके कर्मों का, कर्म फलों का, पता रहता है। सबको उनके कर्मानुसार योनि दे देते हैं, सब कर्मों में पूर्व की तरह ही प्रवृत्त हो जाते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! योनि तो असंख्यों हैं, किस प्राणी ने कितने कर्म किये, कौन सी योनि अब उसे मिलनी चाहिये। इन सबका जिनमें लेखा होगा, वे न जाने कितनी वहियाँ होंगी। भगवान् को बड़ा परिश्रम करना पड़ता होगा।"

मुनि ने कहा—"नहीं राजन्! वही खाते की क्या आवश्यकता। भगवान् को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। सब प्राणी कर्मानुसार अपने-अपने कर्मों में स्वतः ही प्रवृत हो जाते हैं। जैसे लाखों गौएँ हो, बछड़ा उनमें से अपनी माता को ही खोजकर उसका दूध पीने लगेगा। जेसे वनियाँ दिन भर सौदा बेचता है, रात्रि में दुकान बन्दकर देता है, दूसरे दिन फिर बचे हुए को ज्यों-का-त्यों सजाकर बेचने लगता है। ऐसे ही यह सृष्टि का प्रवाह अनादि रूप से चल रहा है। न इसका कभी आदि है न अन्त। सब जीव अदृष्ट की प्रेरणा से अपने कार्मों के फलों को भोग रहे हैं। हमारे भाग्य में बाबाजीपन ही था, हम बाबाजी बने घूम रहे हैं, आपके कर्म में राजा बनना लिखा है आप राजा बनकर राज्य सुख भोग रहे हैं, किसी के भाग्य में लिखना ही लिखा है वह दिन भर लिखता ही रहता है, किसी के भाग्य में भव्य भोगों का भोगना लिखा है, वह उन्हें ही भोगता है, भगवान् ने सृष्टि ही जीवों के कर्म फलों के भोग के निमित्त बनायी है। सो राजन्! आनन्द से भोगों को भोगिये। पुनः पुनः मरिये पुनः पुनः जन्म धारण कीजिये। इसी का नाम भगवान् की माया है यही माया का चक्कर है। यह मैंने अत्यन्त संक्षेप में माया का स्वरूप बताया अब बोलिये और क्या सुनने की इच्छा है?"

राजा ने कहा—'महाराज! यह तो आपने माया का बड़ा विचित्र चक्र बताया। इससे तो जीव का कभी छुटकारा ही नहीं हो सकता। कृपा करके अब आप ऐसा उपदेश दें, जिससे इस माया से छूट सकें आपने कहा था भगवान् ने अपने ही स्वरूपभूत-

जीवों के भोग और मोक्ष के लिये इस संसार की रचना की। सो, कर्म-भोगों की बात तो समझ में आ गयी, कि माया के चक्कर में पड़ा प्राणी अच्छे बुरे कर्मों को करता है और उनके फलरूप सुख और दुःखों को भोगता है। अब इस माया के चक्कर से छुटकारा पाने का-मोक्ष का-उपाय बतावें।"

महामुनि अन्तरिक्ष बोले—"संसार का बन्धन अज्ञान से होता है, ज्ञान से मुक्ति होती है। जिन्होंने अपने मन को वश में नहीं किया है, ऐसे पुरुषों द्वारा भगवान् की यह दुस्तर माया कभी भी नहीं जीती जा सकती। इसे सूक्ष्म दृष्टि वाले ज्ञानी पुरुष ही जीतने में समर्थ हो सकते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! जिनकी सूक्ष्म दृष्टि हो गयी है, जो ज्ञाननिष्ठ हैं उनका माया बिगाड़ ही क्या सकती है। वे तो अपनी ज्ञाननिष्ठा से तर जायँगे। मेरा प्रश्न तो हम जैसे स्थूल बुद्धि वालों के लिये है। हम जैसे साधारण बुद्धि वाले भी जिन उपायों से भगवान् की इस दुस्तर माया को सुगमता के साथ पार कर जायँ, ऐसा सरल सुगम सर्वोपयोगी मार्ग आप बतावें।"

यह सुनकर अन्तरिक्ष मुनि बोले—"राजन्! इसका उत्तर मेरे ये छोटे भाई प्रबुद्ध देंगे। ये सदा प्रबुद्ध रहते हैं। इसलिये इस विषय का ये भली भाँति विवेचन करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक अत्यंत श्रद्धाभाव से जिज्ञासा भरी दृष्टि से महर्षि प्रबुद्ध की ओर देखने लगे। अब जैसे योगेश्वर प्रबुद्ध साधारण लोग माया से तर सकते हैं, इसका जो उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

प्रकृति और महतत्व, अहं, तैजस रज तममय।
तामसतैं तब भूत करन राजसतैं निश्चय॥
करननिके सब देव और मन तैजस सम्भव।
ह्वैकें सब उतपन्न रहें, फिर प्रलय होहि जब॥
तब ये सब प्रतिलोम तैं, मिलैं जाय अव्यक्तमहँ।
यह माया भगवान की, रहे सदा परतत्त्वमहँ॥

हैं। मन में जैसी शंका हो जाती है उसके अनुसार ही सब वस्तुएं दीखने लगती हैं। क्योंकि यह सम्पूर्ण संसार ही भावमय है। जिसकी जैसी भावना दृढ़ हो जाती है उसे सर्वत्र वही दिखायी देने लगता है। उस व्यक्ति की दृढ़ धारणा हो गई निश्चय यह भूत खड़ा है। अब तो उसे उस छाया में हाथ, पैर, नाक, कान, आँख, फटा हुआ भयंकर मुख बड़े-बड़े दाँत प्रत्यक्ष दिखायी देने लगे। उसे ऐसा भी प्रतीत होने लगा, कि यह मुँह फाड़कर मेरी ओर दौड़ा आ रहा है, मारे भय के वह वहाँ अचेतन हो जाता है। समाचार मिलने पर उसके घर के उसे ले जाते हैं। भूत झाड़ने वाले ओझा को बुलाते हैं। ओझा सब पूछता है, वह बताता है अमुक-अमुक स्थान पर मुझे भूत मिला था। ओझा भी पहिले पहिल जब वहाँ गया था, तो उस भी भूत का ही भ्रम हुआ था, किन्तु वह भयभीत नहीं हुआ साहस करके आगे गया, उसे बल्ली दिखायी दी और उसकी छाया को भी समझा। सब रहस्य उसकी बुद्धि में आ गया। अब वह समझ तो गया कि इसे भूत नहीं लगा है, किन्तु इतना कह देने से ही तो वह अच्छा न होगा, इसलिये कार्य चलाने के लिये उसने भी इस बात को सत्य मान लिया कि हाँ अवश्य इसे भूत लगा है। अब वह उसकी शंका को निर्मूल करने के लिये भूत का उपचार करने लगा जैसे उसे भूत लगने का भ्रमवश निश्चय हो गया था, उसी प्रकार अब उसे निश्चय होने लगा कि विद्वान् ओझा की भूतविद्या के प्रभाव से मेरा भूत भाग रहा है। एक दिन एक बाँस की नली को तुरन्त उसने हाथ से दबा लिया और बोला—"लो तुम्हारा भूत अब इस बाँस की नली के भीतर आ गया, मैं गङ्गाजी के किनारे छोड़े आता हूँ, यह कहकर वह भूत को लेकर गङ्गा किनारे चला गया। उस आदमी को विश्वास हो गया मेरा भूत उतर गया। कुछ दिनों के पश्चात् ओझा उसे लेकर उस बल्ली की छाया के

समीप गया, उसे प्रत्यक्ष करा दिया, यह भूत नहीं वल्ली की छाया है, तुमने भ्रमवश उसे भूत मान लिया। जब उसे प्रत्यक्ष हो गया, तो फिर अब उसे कोई भय नहीं रहा। वह छाया कहीं भग नहीं गयी वह ज्यों की त्यों है। दूसरे जो उसके रहस्य को नहीं जानते उन्हे अब भी उसमे भूत का भ्रम होता है वे अब भी अचेत होते हैं। अब वह स्वयं ओझा बन गया है दूसरो के भूतों को भगाता है। किन्तु उस छाया को सर्वदा के लिये हटा नहीं सकता। अब जो मिथ्या भूत के लिये उपचार किया जाता है, वह भी वास्तव मे मिथ्या ही है किन्तु उसके बिना प्रतीत नहीं होती। इसी प्रकार वास्तव में माया कुछ है नहीं, किन्तु उसकी प्रतीत सबको होती है, उसके हटाने के लिये साधन भी किये जाते हैं, साधनों से हट भी जाती है। इससे चाहें माया सत् हो या असत् उसके लिये साधन करना परमावश्यक है। बिना तीव्र साधनो के यह हटने वाली नहीं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज विदेह ने योगेश्वरो से ईश्वरीय माया से पार होने का सरल सुगम उपाय पूछा तो वे कहने लगे—"राजन्! माया कहाँ रहती हैं ?"

हँसकर राजा ने कहा—"महाराज! माया कहीं एक स्थान मे बैठी हो तो बताऊँ। वह स्त्री, पुरुप, घर, द्वार, कुटुम्ब, परिवार धन वैभव सभी मे व्याप्त है। पुरुप जब स्त्री को देखता है, तो मोहित हो जाता है, स्त्री की मोहिनी माया में फँस जाता है। स्त्री पुरुप को देखकर मोहित हो जाती है। चमकता हुआ सुवर्ण जहाँ दिखायी देता है, हम मोहित हो जाते हैं, उसे पाने को सब कुछ करने को उद्यत हो जाते हैं। मोहनथाल, मलाई के लड्डू, रसमें भींगे रसगुल्ले, पिस्ता किसमिस, केसर पडी खीर तथा सुन्दर घी से चूता हुआ सुगन्धित सयाव जहाँ सामने आ जाता है, कि फिर सब कुछ भूल जाता है, मुँह मे पानी भर आता है। मैं तो समझता

हूँ इन सब में माया छिपी बैठी रहती है।"

यह सुनकर हँसते हुए प्रबुद्ध मुनि बोले—"हाँ तो राजन्! जहाँ जिस वस्तु का संभावना हो, प्रथम वहीं उसकी खोज करनी चाहिये। जैसे किसी का ऊँट खो गया है और उसे वह जाकर घी के वर्तन में खोजे तो उसे मूर्ख ही कहा जायगा। पहिले इन पति-पत्नियों के विषय में ही विचार करें, कि इनको क्या सुख है, क्यों ये एक दूसरे को कसकर पकड़े हुए हैं। जिसे भर पेट भोजन भी नहीं मिलता वह भी पत्नी के लिये व्याकुल है। उसे बिना स्त्री के ससार दुखमय प्रतीत होता है, स्त्री पाने से ही वह समझता है मुझे सुख मिल जायगा। दुःख के नाश और सुख की प्राप्ति के ही निमित्त लोग विवाह करते हैं। परस्पर में पति-पत्नि सम्बन्ध रूप दृढ़ रज्जु में वँधकर कर्मानुष्ठान करते हैं। अब विचार यह करना चाहिये कि उसमें उन्हें सुख मिलता है या दुख। राजन्! तुम ही बताओ तुमने तो विवाह किये हैं, कितना सुख मिला।"

लज्जित होकर राजा बोले—"अजी महाराज! सुख कहाँ? विवाह के पहिले झूठे मनोरथ किया करते थे, यों सुखी होंगे, यह सुख मिलेगा। किन्तु विवाह क्या किया दुःख के पहाड़ को जान बूझकर सिर पर उठा लिया। अब इसमें सुख तो कहीं क्षण भर का ही तो भले ही हो, वह भी सुखाभास ही है, परिणाम उसका भी दुःख ही है। इतना सब होने पर भी घर छोड़ा नहीं जाता।"

हँसकर प्रबुद्ध मुनि बोले—"राजन्! बस यही भगवान् की माया है, ऐसे ही आप सब में अनुमान लगा लें। जब धन नहीं होता, तो बड़ा बुरा लगता है तब सोचते हैं, धन मिल जाय, तो हम सुखी होंगे। दैवयोग से धन आ गया, धन क्या आया चिन्ता का सुमेरु पर्वत सिर पर बैठ गया। जब धन नहीं था तब अपनी नींद सोते थे, अपनी नींद उठते थे। धन आने पर पूरी निद्रा नहीं

आती। रात्रि-दिन धन की चिन्ता लगी रहती है। घट नहीं जाय, कोई माँगने वाला न आ जाय, सम्बन्धी उठा न ले जायँ, धन की वृद्धि कैसे हो, किस काम में लगाने से अधिक लाभ होगा। इस प्रकार की अनेकों चिन्तायें धन के साथ में चिपटी चली आती हैं। जैसे केले के पेड़ में छिकुलों के अतिरिक्त उसके भीतर कोई सार वस्तु नहीं। इसी प्रकार धन के भीतर कुछ भी तत्त्व पदार्थ नहीं चिन्ताओं के परतों से प्याज की भाँति एक गाँठ वन गयी है। प्याज के परतों को छीलते चलो, एक के पश्चात् एक निकलते चलेंगे। धन आने से हृदय कठोर हो जाता है, दया नहीं रहती, सब पर अविश्वास होने लगता है, अहङ्कार बढ़ जाता है, सबसे भय बना रहता है, कहाँ तक गिनावें राजन्! धन को वैसे अर्थ कहा है वास्तव में यह अर्थ न होकर अनर्थ है चिन्ता और व्याधि की जड़ है। इतना सब जानते हुए भी लोग धन की ममता को त्याग नहीं सकते यही भगवान् की माया है।

यही दशा घर की है। अपने पास घर नहीं होता तो बड़ी चिन्ता होती है एक घर बन जाय। जैसे तैसे किसी से कुछ द्रव्य लाकर घर बनाने लगते हैं ईंट ला, चूना ला, गारा ला, किवाड़ ला, खिड़की ला, काष्ठ ला, लोहा ला, यह ला, यह ला राज बुला, कर्म करने वाले बुला। यह अच्छा नहीं बना यह बुरा बना। अनेकों चिन्तायें लगती है। सोचते हैं, बन जाने पर सुख होगा। सो भी नहीं, यह टूटा वहाँ स्वच्छता नहीं। दीपक ला, पलंग ला, चौकी ला। गौ मँगाओ, घोड़ा लाओ, रथ बना लाओ कितनी भी सामग्री जुटा लो, तृप्ति नहीं, संतोष नहीं, शांति नहीं। घरवाली के बिना घर व्यर्थ है। घरवाली भी आयी बच्चे न हुए तो सब गुड़ गोबर है। बच्चे हुए मानों चिन्ताओं का स्रोत फूट निकला। पालो, पोसो, बड़ा करो, पढ़ाओ, लिखाओ, करो उनकी गाली सुनो जूते सहो फिर भी घर छोड़ा

यही भगवान् की माया है।

जिसके पास चार पैसे हैं वह रुपये वाले को सुखी समझता है, रुपये वाला सहस्रपति को सहस्रपति लखपति को लखपति करोडपति को करोडपति पद्मपति को, किन्तु सुखी कोई नहीं। यह लाग डाँट यहीं हो सो बात नहीं। स्वर्ग मे जाओ वहाँ भी यही रोग। प्रतिस्पर्धा सर्वत्र चलती है, सुखी कोई नहीं, एक दूसरे को देखकर जलते हैं मेरा घर छोटा है, मेरे पडौसी का कितना बडा है। स्वर्ग मे भी यही दशा है, *एक का विमान अच्छा दूसरे का उससे कुछ कम। एक की सेवा में सहस्र अप्सरायें हाथ जोडे* खडी रहती हैं, दूसरे के पास एक ही है, तो वह उसे देखकर जलता है। यह सातिशय दोष ब्रह्मलोक पर्यन्त पाया जाता है फिर भी लोग इनका मोह छोडते नहीं यही भगवान् की माया है।

राजा ने कहा—"भगवन्! माया को तो हम रात दिन समझते हैं। आपके ज्येष्ठ बन्धु भगवान अन्तरिक्ष ने उसका स्वरूप भी बता दिया, अब मैं तो इस माया से पार होने का उपाय पूछ रहा हूँ।"

योगेश्वर प्रबुद्ध बोले—"राजन्! वही तो मैं आपको बता रहा हूँ, कि सर्व प्रथम जिज्ञासु को इन संसारी विषयों में विचार और विवेक के द्वारा दोष दृष्टि करनी चाहिये। यह निश्चय कर लेना चाहिये कि इन संसारी विषयों में सुख नहीं। यह निश्चय हो जाने पर कि लोक और परलोक दोनों कर्मजन्य हैं तथा क्षयिष्णु और नाशवान् है, तब उस जिज्ञासु को गुरुदेव की शरण ले लेनी चाहिये।"

राजा ने पूछा—"महाराज! गुरु कैसे हों?"

मुनि बोले—"राजन्! बहुत से लोगों को बिना शास्त्रों के भी परब्रह्म का ज्ञान हो जाता है। वे ब्रह्मानुभव तो कर सकते हैं, किन्तु शास्त्रीय प्रक्रिया ज्ञात न होने से वे दूसरों को भली भाँति

समझा नहीं सकते। उनके कुछ वाचाल शिष्य अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा उनके वचनों का कुछ का कुछ अर्थ लगाकर लोगों को समझाते हैं। इससे लोगों में एक अन्ध परम्परा चल पड़ती है, एक दुराग्रही पन्थ खड़ा हो जाता है। इसके विपरीत बहुत से लोग ऐसे होते हैं। जिन्हें शास्त्रों के शब्द तो बहुत कठस्थ हैं। बात-बात पर शास्त्र के वचनों का उद्धरण देते हैं, किन्तु उन्हे परब्रह्म का ज्ञान नहीं, अनुभव ज्ञान शून्य हैं। वे अपनी आजीविका के लिये लोगों को मूड़ते हैं। कान फूँकते हैं, इससे आजीविका भले ही चल जाय, मुक्ति या भक्ति की प्राप्ति उन्हे नहीं होती। जब वे ही अनुभव शून्य हैं, तो उनसे जिन्होंने उपदेश ग्रहण किया है, वे क्या प्राप्त कर सकते हैं। अतः गुरु ऐसा हो जो शान्त चित्त हो और शब्दब्रह्म में और परब्रह्म में निष्णात हो। शास्त्रों का भी जिसे विधिवत् ज्ञान हो, जो पढ़ा हो उसे दूसरों को समझा सकता हो और जिसे अनुभव ज्ञान भी हो, क्रियावान् हो। श्रेय साधन के जिज्ञासु को ऐसे गुरु की शरण लेनी चाहिये।"

राजा ने पूछा—"हाँ, भगवन्! गुरु की शरण में जाने पर उनसे किस बात की शिक्षा लें।"

मुनि बोले—"राजन्! कुछ स्वार्थी लोग जाते ही जिज्ञासु साधक को उपदेश देने लगते हैं—"मैं भी ब्रह्म तू भी ब्रह्म। फिर कैसा पाप पुण्य, ऐसा कह उनसे सब कर्म छुड़ा देते हैं, इससे माया का फन्द कटने की अपेक्षा और सुदृढ़ हो जाता है सच्चे गुरु तो अधिकारी देखकर उपदेश देते हैं। हमें तो माया को जीतना है माया, माया के सेवन से नहीं जीती जा सकती। जो स्त्री बहुत वाचाल हो उसके मुँह लगना उचित नहीं। उसकी बुराई करोगे तो और अधिक बड़ बड़ावेगी। अतः उसकी ओर से मुँह मोड़कर उसके पति की सेवा करनी चाहिये, उससे सम्बन्ध जोड़ना चाहिये। पति से सम्बन्ध जुड़ने पर पत्नी स्वयं सकुचा

जायगी। अतः गुरुदेव मानकर उनसे भागवत धर्मों को सीखे। भगवान् की सेवा पूजा कैसे करनी चाहिये। वैष्णवों के साथ कैसे बर्ताव करना चाहिये, कैसे उपासना करनी चाहिये। इन सब बातों को सीखकर उनका जीवन में आचरण करे। भागवत धर्मों को सीखकर जो उनका निष्कपट भाव से आचरण करते हैं, उन पर वे अखिलेश्वर अच्युत श्री हरि अति प्रसन्न हो जाते हैं। राजन्! जाव को क्लेश तभी तक होते हैं, जब तक प्रभु की प्रसन्नता का जीवन में अनुभव नहीं करता। श्री हरि के प्रसन्न होने पर संसार में ऐसी कौन-सी वस्तु है जो मिल न जाय। भक्त जिस-जिस वस्तु का कामना करता है, भगवान् उसी-उसी वस्तु को दे देते हैं। यहाँ तक कि भगवान् भक्त के लिये अपने आपे को दे डालते हैं, किन्तु भक्त भगवान् से प्रेम के अतिरिक्त अन्य किसी सांसारिक वस्तु की याचना नहीं करता।

राजा ने पूछा—"भगवन्! जो भागवत धर्म कामधेनु के समान कल्पवृक्ष के समान सभी इच्छाओं को पूर्ण करने वाले हैं, जिनके आचरण करने से परब्रह्म प्रभु भी प्रसन्न हो जाते हैं, कृपा करके उन भागवत धर्मों को मुझे भी सुनाइए। वे भागवत धर्म कितने हैं, उनका आचरण कैसे करना चाहिये।"

यह सुनकर प्रबुद्ध मुनि बोले—"राजन्! निखिल-गुण-गणार्णव सत्वैक निलय भगवान् वासुदेव की निरन्तर सेवा में लगे रहना और उनके दिव्य गुणों को धारण करना यही भागवत धर्म है। जो भागवत धर्म में दीक्षित हो जाता है, उससे निषिद्ध कर्म कभी होते ही नहीं। वह सदा सदकर्मों में लगा रहता है। उसका आचरण विशुद्ध और आदर्श होता है।

राजा ने पूछा—"भगवन्! हमें आप उन गुणों को बतावें जिन्हें धारण करते हैं।"

महामुनि प्रबुद्ध बोले—"अच्छी बात है राजन्! अब मैं

आपको उन्हीं सद्गुरुओं के सम्बन्ध में सुनाता हूँ, जिन्हें धारण करके भक्त भगवान् का कृपापात्र बन जाता है।"

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"सुनिये ! अब जिस प्रकार योगेश्वर प्रबुद्ध महाराज जनक को भागवत धर्मों का उपदेश देंगे, उनका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

रहै मौन स्वाध्याय सरलता चित्तमहँ धरै।
ब्रह्मचर्य व्रत पालि न कहु हिंसाहिँ करै ॥
सुख दुखमहँ सम रहै निहारै सब महँ हरिहूँ।
रहै सदा एकान्त न पकरै कपटो सरकू ॥
पट पवित्र पहिनें वसन, यथालाभ सन्तोष रखें।
सतत भागवत धरम के, अपनें वे ही देह रखें ॥

भागवत धर्म

[१२०६]

इति भागवतान् धर्माशिक्षन् भक्त्या तदुत्थया ।
नारायणपरो मायामञ्जस्तरति दुस्तराम् ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० ३३श्लो०)

छप्पय

करै न निन्दा भूलि अन्य शास्त्रनिकी कबहूँ ।
चाहैं सरबसु मिलै अनृत बोलै नहि तबहूँ ॥
सयम मन अरु वचन करमतैं नितई राखै ।
शम दमको आचरन करै हरि चरितनि भाखै ॥
जनम करम गुनगन श्रवन, श्रीहरि के नित नित करै ।
कथा कीरतन ध्यानमहँ, रहै मगन माया तरै ॥

भगवान् दिव्य गुणों की खानि हैं। समस्त सद्गुणों के एकमात्र अधीश्वर श्रीमन्नारायण के गुणों के प्रकाश से अन्य गुणों का प्रकाश हो रहा है, आदि स्रोत तो वे ही हैं। यद्यपि वे तो सभी के स्वामी हैं। निर्मल दिव्य मानसरोवर में कीच भी होती

---

* श्रीशुकदेवजी कहते हैं— राजन ! इस प्रकार भागवत धर्मों का आचरण करते करते उन धर्मों के कारण जो भक्ति उत्पन्न होती है उसके द्वारा साधक नारायण परायण होकर इस कठिनता से पार होने वाली माया को अनायास ही पार कर लेता है।"

होगी, तो वह नीचे बैठी रहती होगी, उसके अस्तित्व का हमें पता नहीं। हमें तो परम सुखकारी मुनि मनहारी सुन्दर, स्वच्छ, सुललित, स्वादिष्ट, शीतल तथा सुखकर सलिल ही सर्वत्र दिखाई देता है। इसी प्रकार भगवान् में समस्त दिव्यगुण पूर्ण शक्तियुक्त होकर निवास करते हैं। जो जिसका निरन्तर चिन्तन करेगा, वह वैसा ही हो जायगा, भगवान के दिव्य गुणों का उनकी दिव्य लीलाओं का अहर्निशि चिन्तन करते-करत भगवद्भक्तों में भी भगवान् के गुण आ जाते हैं। साधु की निष्कपट भाव से निर्व्यलीक होकर-सेवा करने से साधुता स्वतः ही आ जाती है। साधुओं का आचरण विशुद्ध रहता है। अतः भक्ति मार्ग के पथिकों को प्रथम साधु सेवा ही करनी चाहिये। भागवत धर्मों की शिक्षा वे ही भगवद्भक्त देंगे, जिनसे यह दुस्तर माया तरी जा सकती है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! भागवत धर्मों का प्रश्न पूछने पर योगेश्वर प्रबुद्ध ने जिस प्रकार महाराज जनक को उत्तर दिया वह मैं आपको सुनाता हूँ।"

महामुनि प्रबुद्ध बोले—"राजन्! भागवत धर्म तो असख्य हैं। जिस कर्मों से परस्पर मे प्रेम भाव बढ़े सन्तोप हो शान्ति का विस्तार हो, वे सभी भागवत धर्म हैं, उनकी सख्या नहीं, गणना नहीं अवधि नहीं मर्यादा नहीं वे तो अपार हैं। फिर भी उनमें से किसी एक धर्मों का मैं अत्यन्त सक्षेप मे वर्णन करता हूँ। इनमें से किसी एक धर्म का भी, एक मे से स्वल्प धर्म का आचरण करने पर प्राणी बड़े भारी भय से सदा के लिये छूट जाता है।

१— भक्ति पथ के पथिक को सर्व प्रथम तो सर्व सङ्गों का परित्याग करना चाहिए। मुक्ति के पथ को पूर्णतया परिष्कृत करने वाली निस्सङ्गता ही है। देह में गेह मे विषयों में जो आसक्ति है शनैः-शनैः इसे घटाने का प्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि जब

तक विषयों से आसक्ति न हटेगी, तब तक अच्युत में आसक्ति न होगी, चित्त को स्वार्थ से हटाकर परमार्थ में लगाना है, विषयों से हटाकर विहारी में लगाना है अर्थात् कर्मों से हटाकर सत्कर्मों में लगाना है।

२—जब भक्त का झुकाव संसार से हटने लगे, तब साधुसंग करना चाहिये। जिनका मन कामिनी काञ्चन तथा कीर्ति के लोभ में फँसा है, उसे साधुसंग सुहाता नहीं वहाँ भी अपने स्वार्थ सिद्धि की ही खोज करेगा। प्रायः देखा गया है, विषयासक्त पुरुष किसी साधु के समीप जाते हैं, तो उनमें जितना ज्ञान वैराग्य है भगवान् की कितनी भक्ति है इसे नहीं देखते। उनकी दृष्टि उनकी बाहरी वस्तुओं पर जाती है। किस प्रकार इनके प्रति बनावटी भक्ति दिखाकर इनसे अमुक वस्तु ठग लें।' यह उनकी भावना रहती है। जिसने सब विषयों से मन को मोड़ लिया है, उसे कोई क्या ठग सकता है। स्वयं ही ठगा जायगा। साधु उसे काञ्चन के स्थान पर काँच देकर टरका देंगे। अतः साधु के समीप क्षुद्र विषय सुखों की पोटली बाँध कर न जाय। भागवत धर्मों को सीखने के लिये ही साधु की शरण ग्रहण करे।

३—प्रथम विषयों से निःसंगता, दूसरे साधुसङ्ग अब तीसरा गुण है लोगों के साथ यथोचित व्यवहार करना। अभी इतनी योग्यता तो हुई नहीं कि सबमें ब्रह्मभाव ही दिखायी देने लगे। जब ऐसी स्थिति हो जाय, छोटे बड़े खरे खोटे का भेद भाव ही मिट जाय, तो फिर साधन की आवश्यकता ही क्या रही। साधक को सबके साथ यथोचित व्यवहार करना चाहिये। संसार में कुछ अपने से छोटी स्थित के मनुष्य होते हैं, कुछ बराबर की स्थिति के और कुछ अपने से उत्तम पुरुष होते हैं। इन तीनों के साथ तीन प्रकार का व्यवहार करो।

जो अपने से छोटी स्थिति के दीन हीन पुरुष हों उनके प्रति दया के भाव प्रदर्शित करने चाहिये। जो अपने बराबर के हैं उनसे मैत्री भाव रखना चाहिये। बहुधा ऐसा होता है कि जो अपने बराबर के हैं यदि वे धन में, वैभव में, पद में प्रतिष्ठा में तथा अन्य किसी प्रकार से बढ़ जाते हैं, तो उन्हें देखकर ईर्ष्या होती है। उनका उत्थान देखकर मन में बार-बार उठता है वह इतना क्यों बढ़ गया। यदि अपने बराबर के लोग दीन हीन या निराश्रित हो जाते हैं, तो उनका अपमान करने लगते हैं, वे सम्मुख आ जाते है, तो उन्हें युक्ति से किसी प्रकार हटा देते हैं, उनसे घृणा करते हैं। साधक को ऐसा नहीं चाहिये। अपने बराबर के लोग कैसी भी परिस्थिति में हों, उनके प्रति मैत्री भाव ही रखना चाहिये।

जो अपने से बड़े महापुरुष हों, उनके प्रति नम्रता का व्यवहार करना चाहिये, उनके आने पर उठकर खड़ा हो जाय, यथोचित दंड प्रणाम करे, कुशल पूछे, यथाशक्ति सेवा करे, उनके प्रश्नों का नम्रता पूर्वक उत्तर दे। उनके सम्मुख अपनी प्रशंसा न करे, अपना प्रभाव वैभव प्रदर्शित न करे।"

४—पवित्रता रखे। पवित्रता दो प्रकार की होती है, एक भीतरी और दूसरी बाहरी। भीतरी पवित्रता काम क्रोधादि को छोड़ने से प्राप्त होती है। बाहरी पवित्रता मृत्तिका तथा जल आदि से होती है, दोनों ही प्रकार की पवित्रता का विशेष ध्यान रखे।

५—तप करे। तप कहते हैं, शरीर को तपाने को वैसे तो प्राणायाम को परम तप कहा है, किन्तु उपवास को विशेष तप बताया है। एकादशी, जन्माष्टमी, प्रदोष, शिव चतुर्दशी आदि व्रतों को करे, जितना हो सके अपने जीवन को तपमय बनाने की चेष्टा करता रहे।

६—तितिक्षा करे। तितिक्षा उसे कहते हैं जो प्रारब्धानुसार प्राप्त हुए सुख दुःखों को बिना प्रतीकार के स्वेच्छा पूर्वक सहन करले। जो भी दुःख प्राप्त हो उसे हटाने का प्रयत्न न करे। जितने दिन का दुःख हो उसे सहन करले। इसी प्रकार भाग्य-वश जो भी सुख प्राप्त हो जाय, उसे बढ़ाने का स्थाई रखने का प्रयत्न न करे। सारांश यह है कि द्वन्द्वों को निर्विकार भाव से सहते रहना।

७—मौन रहना। मौन कहते हैं वाणी के संयम को। कुछ ऐसी भगवान् की माया है कि वाणी से दूसरों की निन्दा स्तुति किये बिना रहा ही नहीं जाता स्वार्थवश, अभिमान वश व्यसन वश जो बात हमने देखी, सुनी अथवा अनुभव भी न की होगी उसे भी हम कह देंगे। मिथ्या भाषण कर देंगे। इसलिये वाणी से बोले ही नहीं। बोले तो केवल भगवान् के नामों को चरित्रों को बोले। अन्य बातें बिना बोले काम न चले तो सत्य वचन बोले। अनृत भाषण न करे। इस संसार में भगवान् के अतिरिक्त सब ही असत्य है, अतः भगवान् के ही सम्बन्ध में बोले। उन्हीं के नामों का उच्च स्वर से उच्चारण करे, उन्हीं के जगन्मङ्गल यश का गान करे और कोई लोकवार्ता कहे ही नहीं।

८—स्वाध्याय करता रहे। अपने इष्ट मन्त्र के जप को अथवा धार्मिक ग्रन्थों के अध्ययन को स्वाध्याय कहा गया है। निरंतर गुरु प्रदत्त मत्रों का जप करता रहे। भागवत कथाओं को सुनता और पढ़ता रहे। सारांश यह कि सदा अपने इष्ट का स्मरण होता रहे ऐसा सतत प्रयत्न करता रहे।

९—ऋजुता रखना। ऋजुता कहते हैं सरलता को। कुछ लोग ऐसे खोटे होते हैं, जो सोचते हैं कुछ बताते हैं कुछ, करते हैं कुछ। उनका सम्पूर्ण व्यवहार कपट से भरा रहता

है। शब्द तो देखने में सत्य बोलेंगे। किन्तु उनमें सरलता न होगी। ऐसे लोग सदा दूसरों को अपने वश मे रखने की चेष्टा करते रहते हैं, जिस प्रकार भी हो, दूसरा हमारे वश में आ जाय।

२०—ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना। ब्रह्मचर्य कहते हैं वीर्य रक्षा को। वीर्य धातुओं का सार होता है और वह मन के आधीन होता है। मन चञ्चल होने से वीर्य में चञ्चलता आ जाती है। और वीर्य के चञ्चल होने से मन भी चञ्चल होता है। मन या वीर्य चञ्चल होता है कामवासना से। कामवासना उठती है असत् सङ्कल्प से। अतः भोगबुद्धि से, मन से वाणी से या शरीर से दो भिन्न लिङ्गों का ससर्ग न होने देने का नाम ब्रह्मचर्य है। गृहस्थ है, तो वह कामभाव से नहीं केवल सन्तानोत्पत्ति के निमित्त संसर्ग करता है, तो वह ब्रह्मचर्य व्रत का ही पालन करता है, यदि वह कामभाव से सेवन करता है, तो अपने व्रत से च्युत हो जाता है ब्रह्मचर्य व्रत के बिना कोई साधन, भजन पूजन या आराधन नहीं हो सकता। अतः यह सबसे आवश्यक है।

२१—अहिंसा का आचरण करना। मन से, वाणी से अथवा कर्म से किसी भी प्राणी को यथाशक्ति कष्ट न देने का नाम अहिंसा है। वैसे तो शरीर धारण करना ही हिंसा है। नासिका से जो साँसें निकलती हैं वे उष्ण होती हैं। कुछ ऐसे सूक्ष्म जन्तु होते हैं जो उस सास से भी मर जाते हैं। मार्ग में चलते समय बहुत से जीव दबकर मर जाते हैं। अन्न के प्रत्येक कण मे जीव हैं, जलने वाली लकड़ियो म बहुत से जीव बैठे रहते हैं। खेती करने मे असख्यों जीव मर जाते हैं। ओपधि निर्माण करने मे कितने जीवो की हत्या होती है। रेशम कितने जीवों को मारकर बनता है, लाह में

असख्यो जीव मरते हैं। सारांश यह है कि कोई ऐसी क्रिया नहीं जिसमें हिंसा न हो। किन्तु यथा साध्य ऐसे रहे जिससे हमारे शरीर से किसी को कष्ट न हो। मन से किसी का अनिष्ट न सोचे, वाणी से किसी से कटु भाषण न करे तथा शरीर से परपीडन न करे। दूसरे के मांस को न खाय, जीने की इच्छा रखने वाले प्राणियों की शक्तिभर हिंसा न करे। इसी का नाम अहिंसा व्रत है। जो अहिंसा का आचरण करता है उसके संसार मे सभी मित्र हो जाते हैं। वह अजातशत्रु बन जाता है।

१२—द्वन्द्वो मे समभाव रखना। तितिक्षा तो उसे कहते हैं, दुःख आवे तो उसे सुख समझकर सह लेना और सुख आवे तो उसे समझकर सह लेना, किन्तु समता उसका नाम है कि सुख दुख मे कोई भेदभाव ही न करना। जैसा ही सुख, वैसा ही दुःख। जैसा ही ज्ञान, वैसा ही अज्ञान, जैसा ही पडित, वैसा ही मूर्ख। ऊपरी वेष को न देखकर सर्वदा तत्व मे ही दृष्टि रखना इसी का नाम समता है।

सर्वत्र आत्म दर्शन—यह तो निश्चय हो गया कि तत्व एक ही है। आत्मा एक ही है द्वन्द्व कुछ नहीं है, फिर द्वैत तो इतना ही रहा। उसे मिटा देना। जो आत्मरूप हरि मेरे मे विराजमान् हैं, वे ही सर्वत्र विराज रहे हैं। सब भूत मुझमें हैं, आत्मरूप से मैं ही सबमे व्याप्त हूँ। इस प्रकार के ज्ञान को सदा स्मरण रखना।

१३—कैवल्यका अभ्यास करना। अर्थात् एकान्त सेवन करना। भीड़ भाड़ मे आत्मचिन्तन होता नहीं। भाँति-भाँति की अनुकूल प्रतिकूल बहुत सी बातें सुनकर चित्त में विक्षेप हो जाता है, इसलिये एकान्त में रहे, सङ्ग करना ही हो तो कथा कीर्तन काल मे भक्तों का ही सङ्ग करे। एकान्त सेवन

से ही अपने में सभी ससार को देखने का अभ्यास हो जाता है। एकान्त सेवन करते-करते ऐसा अभ्यास हो जाता है, कि फिर उसे जहाँ बिठा दो वहीं उसके लिये एकान्त हो जाता है। वह वासनाहीन बन जाता है। जो वासना की पोटली बाँधे हुए है, वह चाहे घोर वन में भी जाकर बैठ जाय, तो वहाँ भी उसके लिये एकान्त नहीं है और जो वासनाहीन हो गया है उसके लिये जहाँ बैठे वहीं एकान्त है। अतः निर्जन स्थान मे बैठकर अपनी वासनाओं को क्षय करे।

१४—अनिकेतता रखना। अर्थात् जिस वृक्ष के नीचे रहे, जिस फूँस की कुटी में रहे, अथवा महल मन्दिर कहीं भी रहे, उसे अपना न समझे। प्रायः ऐसा होता है कि जैसे शरीर में मिथ्या अभिनिवेश हो जाता है, इस शरीर को ही आत्मा समझने लगता है, उसी प्रकार प्राणी जिस घर मे अधिक दिन तक रहता है। उसमें ममत्व हो जाता है। ममत्व जिसमें हो जायगा, वैसा ही मनुष्य बन जायगा। स्त्री को यह ममत्व हो जाय, मैं पत्नी हूँ, तो उसे जन्मजन्मान्तर मे पत्नी ही बनना पड़ेगा। पुरुष को यह ममत्व हो जाय, मैं पति हूँ तो उसे कीड़े मकोड़े की कोई भी योनि प्राप्त हो उसमें पत्नी मिल जायगी। इसी प्रकार घर मे ममत्व होने से फिर चूहा बिल्ला, छिपकली, मच्छर अथवा सर्प बनकर उसी घर में रहना होगा। इसीलिये साधु के लिये कहा है, वह मठ मन्दिर न बनावे। क्योंकि बनाने से निरन्तर उसी का चिंतन करने से उसमें ममत्व हो ही जाता है। अतः अनिकेत होकर विचरे जहाँ बना बनाया, टूटा-फूटा कैसा भी स्थान मिल जाय, उसी मे रह जाय। घर में ही रहना हो उस घर मे तथा

घर के उपयोगी वस्तुओं में ममत्व न करे। धर्मशाला की भाँति वहाँ निवास करे।

१५—शुचिता रखे। अर्थात् जो भी वस्त्र आदि धारण करे पवित्र हो। एक तो पवित्रता यह कि वे धर्म पूर्वक प्राप्त किये हों। दूसरे वे मेले कुचेले न हों। स्वच्छ धुले हुए निर्मल हों। इसी प्रकार भोजन में, निवास स्थान में स्वच्छता हो। जहाँ रहे वहाँ स्थान लिपा पुता झाडा बुहारा स्वच्छ रहे। भोजन स्वच्छता से बनाकर भगवान् का भोग लगाकर प्रसाद समझ कर स्वच्छ स्थान में स्वयं हाथ पैर धोकर, स्वच्छ होकर स्वच्छ वस्त्र पहिनकर पावै साराश यह है कि सभी कामों में सभी व्यवहारों में पवित्रता का अधिक ध्यान रखे।

१६—यथालाभ सन्तोष रखना। अर्थात् भाग्यवश जो भी प्राप्त हो जाय, उसी में सन्तोष मान लेना। असन्तोष से अशान्ति होती है। भोग पदार्थों में सुख शांति नहीं है। वह तो मन के ऊपर निर्भर है। एक मनुष्य के पास असख्यों मुद्राएँ हैं, चिन्ता के कारण उसे निद्रा भी नहीं आती। इसके विपरीत दूसरे के पास कुछ भी नहीं है, नित्य पेट भरने भर को लाता है अपना नींद सोता है। तृष्णा को जितनी भी बढाओ उतनी ही बढेगी, जितनी घटाओ उतना ही घटेगी। अतः भाग्यवश जैसी स्थिति प्राप्त हो, उसी में सन्तोष रखना।

१७—भगवत् सम्बन्धी शास्त्रों में श्रद्धा रखना। प्रायः ऐसा होता है, कि जो बात हमारी बुद्धि के विपरीत जान पडती है, उसके प्रति हमारी अश्रद्धा हो जाती है। भगवान् तो अचिन्त्य हैं। अचिन्त्य भाव तर्क द्वारा तो सिद्ध हो नहीं सकते। उनमें तो हमें श्रद्धा ही करनी पड़ेगी। अतः भगवत् सम्बन्धी शास्त्रों को श्रद्धा पूर्वक ही पढना चाहिये और उन्हें भक्तिभाव से हृदयङ्गम करना चाहिये।

१८—अच्छा जो भगवत् सम्बन्धी शास्त्र नहीं है। लौकिक शास्त्र है, शिल्प सम्बन्धी भौतिक विज्ञान आदि के शास्त्र हैं। उनकी निन्दा न करना। बात यह है कि ससार में निन्दनीय कोई वस्तु है ही नहीं। निन्दा ही एक मात्र निन्दनीय वस्तु है। सभी तो भगवान् की निर्मित वस्तु हैं, सर्वज्ञ भगवान् निन्दनीय वस्तु क्यों बनाने लगे। अतः जो निन्दा करता है, वह वस्तु की निन्दा नहीं भगवान् की निन्दा करता है। इसीलिये सबकी निन्दा करना निषेध है जो अपना कर्तव्य हो उसे करे जो अपने कर्तव्य के विपरीत प्रतीत हो उसकी उपेक्षा करदे, निन्दा न करे।

१९—मन, वाणी तथा कर्मों का सयम रखना। बात यह है, मन चाहता है, मैं स्वच्छन्द विचरण करूँ जो सम्मुख आ जाय उसी का चिन्तन करूँ, व्यर्थ की बीती बातों को सोचूँ। मनोरथ पर चढ़कर व्यथ की कल्पनायें करता रहूँ। इसी प्रकार वाणी भी चाहती है जो मन मे आवे बकती रहूँ। चाहें जिसे गाली दूँ, चाहे जिसकी हँसी उड़ाऊँ। इसी प्रकार कर्मेन्द्रियाँ कुछ न कुछ करते ही रहना चाहती हैं। विशेष कर बाहरी बातें करने में इन्द्रियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। बहुत से जाँघ को हिलाते रहते हैं, बहुत से अनेकों प्रकार की कुचेष्टायें करते रहते हैं। यह सब सयम के अभाव में असयमी पुरुष करते हैं। अतः मन की चेष्टाओं पर वाणी पर तथा शरीर द्वारा किये कर्मों पर सयम रखना चाहिये।

२०—सत्य बोलना। हम अपने दोषों को छिपाने को, स्वार्थ सिद्धि के लिये असत्य भाषण करते हैं। जो हमने किया नहीं है उसे भी अपना किया बताते हैं अथवा जो किया है उसे भी सर्व साधारण के सम्मुख पूछने पर छिपाते हैं। जो देखा नहीं

है उसे देखा बताते हैं, जो देखा है उससे अपनी अनभिज्ञता प्रकट करते हैं। न्यायालय में जाकर झूठी साक्षी दे आते हैं। अपनी ओर से नमक मिर्च लगाकर छोटी बात को बड़ी बना देते हैं। कुछ का कुछ अर्थ कर देते हैं। यह सब हम सत्य को भूल कर करते हैं। जिसके जीवन में सत्य की प्रतिष्ठा नहीं उसके मन में भगवान् कैसे आ सकते हैं, अतः सत्य-स्वरूप भगवान् की प्रतिष्ठा करने के निमित्त सत्य का आचरण करना चाहिये। सत्यनारायण का व्रत करना चाहिये सत्य की महिमा सुनकर उसका अपने जीवन में आचरण करना चाहिये।

२१—शमदमादि का पालन करना। शम कहते हैं मन के सयम को, दम कहते हैं इन्द्रियों के दमन को अर्थात् सब ओर से मन को खींचकर भगवान् में लगाना चाहिये। इन्द्रियों को, मन को, किसी भी दशा में वहिर्मुख न होने देना चाहिये।

२२—श्रीहरि के जन्म, कर्म और गुणों का श्रवण करना, मनुष्य का स्वभाव है, वह दूसरों के विषय में कुछ सुनना चाहता है, उसे जीवन चरित्र सुनने में, कहानी कथा सुनने पढने में स्वाभाविक आनन्द आता है। मरणधर्मा पुरुषों की कहानियों को सुनोगे, तो मरण को प्राप्त होगे। अमर पुरुष के चरित्र सुनोगे तो अमर हो जाओगे। अजन्मा के जन्म को सुनोगे तो जन्म मरण के चक्कर से छूट जाओगे। कर्मासक्त पुरुषों के कुकर्मों को सुनोगे, तो उनमें ही तुम्हारी प्रवृत्ति होगी कर्म बन्धनों से रहित भगवान् के कर्मों को सुनोगे तो कर्म पाश से छूट जाओगे। ससारी लोगों के गुण सुनोगे तो वे ही हृदय में बैठेंगे। असंसारी श्रीहरि के गुणों का श्रवण करोगे, तो वे ही हृदय में आवेंगे। यद्यपि भगवान् जन्म कर्म और गुणों से रहित हैं तथापि भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये

वे अवतार धारण करके जन्म लेते हैं, कर्म करते हैं और अपने गुणों का विस्तार करते हैं। अतः विचित्र लीलाविहारी भगवान् के अवतार चरित्रों का—भागवती कथाओं का निरंतर श्रवण करना चाहिये।

२३—श्रवण के साथ कीर्तन भी करना चाहिये। नियम ऐसा है, छोटा बालक जो सुनता है, उसी का उच्चार करता है। इसी प्रकार भक्तगण भगवान् के नाम की महिमा श्रवण करे, तो उन नामों का मिलकर या एकाकी ही कीर्तन करें। उनके जन्म की कथाओं को गद्य पद्य में ताल स्वर सहित गावें। उनके भक्तवत्सलता आदि गुणों की गाथाओं का गान करे। अपने भक्तों पर उन्होंने कहाँ-कहाँ कृपा की। इनका भी गान करें। उनके गोवर्धनधारणादि अद्भुत कर्मों का गान करें। नाचकर हाव भाव द्वारा उनका प्रदर्शन करें। इस प्रकार कीर्तन करके अपनी वाणी को सफल करें।

२४—भगवान् का ध्यान करे। मनमे ससारी वस्तुएँ ही भरी हैं, अतः मन उन्हीं का ध्यान करता रहता है। वस्तु ऐसी सुन्दर है, उससे ऐसा सुख मिला। वह मिले तो उत्तम हो इत्यादि इत्यादि। मन से ससारी वस्तुओं को हटाकर भगवान् के रूप का ध्यान करे, उनकी लीलाओं का चिन्तन करें।

२५—समस्त चेष्टायें भगवान् के लिये ही करे। घर को भगवान् का मन्दिर बना ले झाडू दे तो भगवान् के लिये, फूल फल लगावे तो भगवान् के लिये, धनोपार्जन करे तो सेवा के लिये। साराश यह है कि जो भी कर्म करे सब भगवान् की पूजा के ही सम्बन्ध से करे।

२६—यज्ञानुष्ठान करे। यथाशक्ति हवनीय द्रव्यों से भगवान् के निमित्त हवन करे। प्राणायाम करे। परोपकार यज्ञ करे,

ज्ञानयज्ञ करे, सङ्कीर्तनयज्ञ जेसा भी अपने से बन पडे तैसा ही यज्ञ अवश्य करे।

२७—जप तप म चित्त को लगाये रखे। भगवान् के नामों का गुरु मन्त्रा का जप करता रहे। उस जप को तप पूर्वक करे। यह नहीं कि आलस्य में पडे पडे बिना मन के कह रहे हैं। नहा, दृढ आसन लगाकर मन को शने शने रोककर मन्त्र जाप करे।

२८—आचार का पालन करे। जेसा कुलाचार, देशाचार, सदाचार हो उसका पालन करे। शास्त्रों में जिस प्रकार आचार-विचार से रहने का वर्णन है यथाशक्ति यथा सामर्थ्य वेसे ही रहे। जो आचार से हीन है, उसे वेद भी पवित्र नहीं कर सकते। अत आचार को धर्म का उद्गम स्थान कहा है।

२९—भगवान् के लिये सर्वार्पण करे। जो-जो वस्तु अपने को अत्यन्त प्रिय हो उसे ही भगवान् के अर्पण करे। जो आवे उसे प्रथम भगवान् को अर्पण करके तब प्रसाद समझकर उसे ग्रहण करे। सबसे प्रिय जो अपनी कान्ता है उसे भगवान् को अर्पण कर दे। अपने पुत्रों को भगवान् के पुत्र समझे। पुत्र हो, तो कहे–"प्रभो! इसमें मेरा कुछ नहीं है। सब आपका ही है। सुन्दर घर बनकर तैयार हो जाय, लिप पुतकर स्वच्छ हो जाय, तो उसे भगवान् के अर्पण कर दो जब वह भगवान् का मन्दिर हो गया, तो वे ही उसकी चिन्ता करेंगे, हमे तो भगवान् की ही चिन्ता में निमग्न रहना चाहिये। अपने प्राणों को भी प्रभु के अर्पण कर दे। जब तक भगवान् चाहे, प्राणों को शरीर में रखें, जब चाहें निकाल ले जायँ, प्राणों को अपने समझकर उनमे मोह न करे। साराश यह है, कि जो भी कुछ हो जिसमें भी अपनापन हो, उसे हो परमात्मा के अर्पण कर दे।"

३०—भागवतों से प्रेम करे। जो भगवान् के अनन्य भक्त हैं, जो कृष्ण को ही अपनी आत्मा, अपना स्वामी और सर्वस्व समझते हैं, ऐसे प्रपन्न भक्तों से सदा प्रेम करे। उन्हें ही अपना सगा सम्बन्धी समझे।

३१—सबकी श्रद्धा सहित सेवा करो। जो साधु स्वभाव के सन्त हैं, परमात्मा के भक्त हैं, महात्मा हैं उनकी सदा सेवा करता रहे, दीन दुखियों के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करता रहे स्थावर हो या जङ्गम प्राणीमात्र की सेवा करना अपना कर्तव्य समझे। अपने को सबका सेवक समझे।

३२—भागवत् गुणों का कथोपकथन करना। भक्तों के बीच में बैठकर भगवान् के सम्बन्ध में स्वयं कुछ कहे, जो अन्य भक्त कहें उसे सुने भगवत् सम्बन्धी प्रश्न करे। साराश यह है कि वार्तालाप जो भी हो भगवान् के ही सम्बन्ध के हों।

महामुनि प्रबुद्ध कह रहे हैं—"राजन्! कहाँ तक गिनाऊँ, तुम्हें मैं भागवद् धर्मो की मोटी-सी पहचान यही बताये देता हूँ कि जिन कर्मों के करने से ससार में मोह न हो, अपितु प्रभु के प्रति प्रेम ही बढ़ता जाय, जिन कर्मों के करने से चित्त मे अशान्ति का अनुभव न हो अपितु चित्त मे एक प्रकार की शांति प्रतीत होने लगे वे सभी भागवत धर्म हैं, जिन कर्मों का सम्बन्ध भगवान् से है वे सभी भागवत धर्म हैं ऐसे कर्मों को निरन्तर करता ही रहे, आलस्य न करे, कर्म करने मे प्रमाद न करे, करता ही जाय।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! कर्म करना तो अज्ञान का कार्य है, सम्पूर्ण कर्मों का आरम्भ करना दोषयुक्त है। फिर आप कर्मों पर इतना बल क्यों दे रहे हैं?"

महामुनि प्रबुद्ध बोले—"राजन्! ससारी कर्म दोषयुक्त हैं। प्रभु प्रीत्यर्थ किये हुए कर्म तो प्रभु में प्रेम उत्पन्न होने के कारण

होते हैं। देखिये, भक्ति दो प्रकार की होती है। वेधी और प्रेमा। वेधी भक्ति में विधि का पालन होता है ऐसे पूजा करो, ऐसे पाठ करो, ऐसे अर्चन करो, ऐसे वन्दन करो। जब इन कर्मों को करते-करते अन्तःकरण शुद्ध बन जाता है, तो प्रेमाभक्ति का उदय होता है। जब तक प्रेमाभक्ति का उदय नहीं होता तब तक भक्त स्वयं भगवत् सम्बन्धी कर्म करता रहता है और दूसरों से भी कराता रहता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! वधी भक्ति के सम्बन्ध में तो आपने बताया। कृपा करके प्रेमाभक्ति के सम्बन्ध में और बताव। प्रेमाभक्ति उदय होने पर कैसी दशा हो जाती है, किन लक्षणों से हम जानें कि प्रेमाभक्ति उत्पन्न हुई।"

योगेश्वर प्रबुद्ध हँसकर बोले—"राजन्! अब इस विषय में निश्चित बात क्या बताऊँ। इतना ही समझ लें कि प्रेमाभक्ति उदय होने पर भक्त की दशा अलौकिक हो जाती है। उसके सम्पूर्ण शरीर में पुलक होने लगता है। जहाँ भगवान् की चर्चा छिड़ी कि उसका शरीर रोमाञ्चित हो उठता है। बारम्बार फुरहुरी आने लगती हैं। उसे भगवान् का ध्यान हो जाता है, तो उनके नेत्रों से झर-झर अश्रु प्रवाहित होने लगत हैं कभी कभी वह प्रेम में भरकर खिल खिलाकर हँसने लगता है, उसका अट्टहास दशों दिशाओं में गूँज उठता है। कभी आनन्द में भरकर अन्य अलौकिक चेष्टायें करने लगता है, कभी एकान्त में अपने आप ही कुछ बड़बड़ाने लगता है। प्रभु से बातें करने लगता है। कभी कभी कीर्तन करते करते नाचने लगता है। कभी उच्च स्वर से भगवान् के गुणों का गान करने लगता है। कभी भक्तों के बीच में बैठकर उन्हीं के सम्बन्ध की चर्चा करने लगता है। कभी ध्यान करते-करते तन्मय हो जाता है, संसार को सर्वथा भूल जाता है। कभी संसार के सभी कार्यों को माया विलास समझकर

उनसे उपरत हो जाता है, मौनी बाबा बन जाता है। सब ओर से चित्त हटाकर भगवान् में ही लगा देता है। इस प्रकार राजन्!

निरन्तर भागवत धर्मों का आचरण करते-करते यह [illegible] स्थिति प्राप्त हो जाती है, जिस भक्त के हृदय में प्रेमाभक्ति

हो जाय, फिर उसके लिये कुछ भी कर्तव्य अवशेष नहीं रह जाता, वह कृतार्थ हो जाता है, नहीं तरने योग्य इस भगवान् की माया को अनायास ही तर जाता है। ऐसा नारायण परायण भक्त त्रिभुवन को पावन करने में समर्थ होता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! आप वार बार श्रीमन्नारायण, श्रीमन्नारायण परायण आदि शब्द कहते हैं, तो मैं जानना चाहता हूँ कि नारायण नाम किसका है नारायण का स्वरूप क्या है भगवान् ब्रह्म नारायण इनके सम्बन्ध में मुझे बतावें। नारायण के स्वरूप को समझावें।"

यह सुनकर महामुनि प्रबुद्ध हँस पड़े और बोले—"राजन्! जो रूप से रहित है उसका स्वरूप बताया ही क्या जा सकता है। फिर भी ये मेरे छोटे भाई पिप्पलायन इस विषय का उपदेश आपको देंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! इतना कहकर योगेश्वर प्रबुद्ध मौन हो गये अब राजा श्रद्धा भक्ति सहित नम्रता पूर्वक जिज्ञासा भरी दृष्टि से योगेश्वर पिप्पलायन की ओर निहारने लगे। अब पिप्पलायनजी ने जिस प्रकार श्रीमन्नारायण के स्वरूप का वर्णन किया, उसको मैं आगे कहूँगा। आप शांत चित्त से उसे श्रवण करें।"

छप्पय

करें यज्ञ, मख, दान, मन्त्र, जप, तप सब नियमित।
सुत, दारा, गृह, प्रान करैं सब हरिकूँ अरपित॥
हरि भक्तनि सरवस्व समुझि सेवैं सुख पावैं।
हरि चरचा कूँ, त्यागि अनत नहिं चित्त चलावैं॥
इन धरमनि आचरन तैं, प्रेमभाव होवैं उदित।
भक्तिभाव भावित भगत, नित नाचत रोवत हँसत॥

—:—:—

योगेश्वर पिप्पलायन द्वारा नारायण स्वरूप का वर्णन

[१२०७]

स्थित्युद्भवप्रलयहेतुरहेतुरस्य ।
यत्स्वप्नजागरसुषुप्तिषु सद् बहिश्च ॥
देहेन्द्रियासुहृदयानि चरन्ति येन ।
सञ्जीवितानि तदवेहि परं नरेन्द्र ॥*
(श्री भा० ११ स्क० ३ अ० ३५ श्लोक)

छप्पय

'नारायन हरि कौन' नृपति ने प्रश्न कर्यो जब।
सुनिकें बोले विहँसि पिप्पलायन मुनिवर तब॥
जग की उतपति प्रलय अकारन ह्वैकें कारन।
बाहर भीतर रहे सबनिमहँ हरि नारायण॥
स्वय प्रकाशित परावर, नेति निगम आगम कहैं।
प्रान, करन, अन्तःकरन, नित जिनतैं जीवन लहैं॥

जो वाणी का विषय नहीं, शब्द का विषय नहीं उसका कथन किया भी जाय तो कैसे किया जाय। मौन ही उसका कथन है।

---

* महामुनि पिप्पलायन महाराज जनक से कह रहे हैं—"हे नरेन्द्र श्रीमन्नारायण इस जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय के कारण हैं तथा स्वय वे कारण रहित हैं। जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनो के भीतर भी हैं और बाहर भी। जिनके द्वारा जीवन प्राप्त करके देह, इन्द्रियाँ प्राण और हृदय अपने-अपने व्यापार मे प्रवृत्त होते हैं। उन्हीं को हे राजन्! तुम परब्रह्म नारायण जानो।"

चुप हो जाना ही उसका परिचय है। बहुत से ऐसे विषय हैं जिन्हें वाणी से नहीं कहा जाता, कोई पूछता है तो चुप हो जाते हैं या किसी अन्य संकेत द्वारा बताते हैं। जैसे हमें किसी को चन्द्रमा दिखाना है, तो हम कहते हैं—"यह मेरी उँगली की सीध में देखो। वह चन्द्रमा है।" वास्तव में उँगली के सीध में चन्द्रमा कैसे हो सकता है। कहाँ उँगली कहाँ चन्द्रमा किन्तु यहाँ उँगली के सम्मुख चन्द्रमा है ऐसा कहने में तात्पर्य नहीं है। तात्पर्य तो चन्द्रमा दिखाने में है। इसी प्रकार भगवान् तो निर्गुण हैं कारण रहित हैं, फिर भी उन्हें जगत् कार्यों का कारण कहकर परिचय दिया जाता है, केवल बोध कराने के निमित्त। यद्यपि भगवान् प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्दादि प्रमाणों द्वारा सिद्ध नहीं किये जा सकते। क्योंकि वे इन सबसे परे हैं, फिर भी समझाने को कहते ही हैं। इन सबके द्वारा सिद्ध न होने पर भी उनका बोध तो होता ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने नारायण का स्वरूप पूछा, तब योगेश्वर पिप्पलायन कहने लगे—"राजन्! वृक्ष मे फल लगता है जब तक पकता नहीं तब तक स्थिर रहता है, पककर गिर जाता है। यह सब किसकी प्रेरणा से होता है?"

राजा ने कहा—"महाराज! यह सब तो काल की प्रेरणा से होता है।"

महामुनि पिप्पलायन बोले—"राजन! काल में भी जिनकी प्रेरणा से कलन शक्ति होती है, वे ही श्रीमन्नारायण हैं। वे ही इस संपूर्ण संसार की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के कारण हैं।"

राजा ने कहा—"जो जिसका कारण होता है उसका भी कोई न कोई कारण होगा। जैसे पुत्र का कारण पिता है, तो उस पिता का भी कोई कारण अवश्य होगा। फिर श्रीमन्नारायण का कारण कौन है?"

मुनि ने कहा—"राजन्! भगवान् कारण रहित हैं, उनका कोई कारण नहीं। व ही कार्य हैं, व ही कारण है वे ही करण हैं। वे ही निमित्त कारण हैं वे ही उपादान कारण हें। जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति ये तान अवस्था कही गयी हें। जाग्रत मे वही विश्व-रूप से नेत्रों में रहता हे। स्वप्न म वही तैजस रूप से आत्मा में रहता हे, सुषुप्ति मे वही प्राज्ञ रूप से आत्मा मे रहता है। वह अवस्थाओं का साक्षी रूप से भातर वाहर सर्वत्र हे। वही सब देखता है वही करता हे, फिर भी इन सब में लिप्त नहीं होता।"

राजा ने कहा 'महाराज! कार्य तो हम देह से कर्मेन्द्रियों से करते हैं। वस्तुओं का ज्ञान ज्ञानेन्द्रियों से करते हैं जीवन प्राण के द्वारा धारण करते हैं और अनुभव हृदय के द्वारा अन्त करण से करते हैं।"

महामुनि पिप्पलायन ने कहा—"राजन्! ये सब तो जड हैं इन सब में जो जीवन प्रदान करता हे इन सब में जो चैतन्यता स्थापित करके इन सबको व्यापार में प्रवृत्त करता हे, उन्हें ही तुम परात्पर तत्व नारायण समझो।"

राजा ने कहा—"उस तत्व को जाने कैसे? मन के द्वारा मनन करे या बुद्धि के द्वारा जाने।"

हँसकर पिप्पलायन मुनि बोले—"क्या अग्नि के विस्फुलिङ्ग अग्नि को प्रकाशित कर सकते हैं। क्या जल के कण जल को भिगो सकते हैं। क्या वायु का तरगे वायु को उडा सकती हे? इसी प्रकार मन, वाणी, चक्षु, बुद्धि, प्राण तथा अन्यान्य इन्द्रियाँ उन प्रभु की सिद्धि करने म असमर्थ हैं। राजन्! ये सब तो जड हैं। इन सब में तो चैतन्यता वे ही प्रदान करते हैं। बाप के जन्म की बात बेटा कैसे बता सकता है?"

राजा ने कहा—"अच्छा, भगवन्! शास्त्र तो शब्दों द्वारा उसको बता सकता है?"

राजा ने कहा—"हाँ! शास्त्र तो उसे बताता ही है। शास्त्र न बतावे, तो उसका ज्ञान कैसे हो। शास्त्र उसे प्रत्यक्ष नहीं बताता। लजीली बहू की भाँति निषेध वृत्ति से बताता है। किसी का पति दश आदमियों के बीच में बैठा है। उसकी सहेली पूछती है तेरे पति वे हैं वह सिर हिला देती है। फिर पूछती है, वे हैं फिर सिर हिला देती है। जब पति की ओर संकेत करती है, तो लजाकर चुप हो जाती है। वह सहेली संकेत से समझ जाती है वे ही हैं। इसी प्रकार देह ब्रह्म नहीं, इन्द्रिय ब्रह्म नहीं, उसके विषय ब्रह्म नहीं, मन ब्रह्म नहीं, बुद्धि ब्रह्म नहीं, चित्त ब्रह्म नहीं अहङ्कार ब्रह्म नहीं। इसी प्रकार नहीं-नहीं करते-करते जो शेष रह जाय, वही ब्रह्म है। अनात्म पदार्थों का निषेध करते करते जहाँ निषेध की अवधि हो जाय, वही ब्रह्म है वहीं नारायण है।"

राजा ने कहा—'हम महाराज! यों क्यों न मान लें, कि ब्रह्म कोई वस्तु है ही नहीं।"

गम्भीर होकर पिप्पलायन मुनि ने कहा—"नहीं, राजन्! देखिये, आप उस निषेध का कोई आधार न मानेंगे, तब तो यह कहा ही नहीं जा सकता 'यह नहीं है।' यह नहीं है किसी वस्तु की अपेक्षा से ही कहा जायगा। किसी ने कहा—"इस भीड़ में से देवदत्त को खोज लाओ। अब खोजने वाला चाहता है जिसे देखता है, उसी को देखकर कहता है यह देवदत्त नहीं है। आगे दूसरे को देखकर कहता है यह भी देवदत्त नहीं है। अब वह पुरुष सम्पूर्ण मेले में घूमता है। और प्रत्येक को देखकर कहता 'यह नहीं है।" तो उसके 'नहीं' कहने से यह प्रतीत होता है देवदत्त नामक कोई व्यक्ति है तो अवश्य किन्तु वह इस भीड़ में नहीं है। इसी प्रकार वेद जब कहता है "नेति नेति" यह वह नहीं है, यह यह नहीं है। तो इस कथन से यह स्पष्ट सिद्ध है कि मन,

वाणी, बुद्धि, प्राण तथा अन्यान्य इन्द्रियाँ ब्रह्म नहीं हैं, किन्तु इनसे विलक्षण कोई ब्रह्म अवश्य है। यह अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। अर्थापत्ति उसे कहते हैं, जो वस्तु दीखती तो है किन्तु उसका अनुमान लगाते हैं जैसे 'शशक के सींग नहीं होते इस कथन से इतना ही सिद्ध है शशक नामक जीव के सिर पर सींग दिखाई नहीं देते। सींग नामक वस्तु अवश्य है और वह चार पैर वाले पशुओं के सिर पर उत्पन्न होते हैं। यदि 'सींग' नामक वस्तु का अभाव ही होता,तो यह कहना असगत था, व्यर्थ था कि शशक के सींग नहीं। सींगों की प्राप्ति ही नहीं थी तो निषेध क्यों किया है। निषेध किया इससे यह सिद्ध हो गया कि सींगों का अस्तित्व है। वेदों में नेति-नेति शब्द है इससे यह स्वतः सिद्ध हो गया कि ये मायिक पदार्थ नारायण नहीं, इनसे विलक्षण एक नारायण है, जब यह ससार नहीं था ब्रह्म तब भी था, अब यह जगत् दीखता है तब भी है, जब जगत् न रहेगा ब्रह्म तब भी रहेगा।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! जब ब्रह्म एक ही था, तो उससे ये अनेक पदार्थ कैसे हो गये।"

हँसकर पिप्पलायन मुनि बोले—"राजन्! एक से ही तो अनेक होते हैं। आम के पेड़ के पूर्व गुठली एक ही थी जब वह भूमि में गाड़ दी गयी, तो उस गुठली से अंकुर हो गया, उसी में से पत्ते निकल आये। फिर शाखायें निकलीं, शाखाओं में से प्रशाखायें हुईं उनमें फूल निकल आये, फल लग गये। फलों में गुठली लग गयीं उस गुठली से ही इतनी वस्तुयें हो गयीं। अन्त में फिर गुठली की गुठली हो गयी। एक गुठली से अनेक हो गयी। उन सब में बीज रूप से तो एक ही शक्ति विद्यमान है। एक बीज से अनेक वस्तुयें हुईं, फिर अन्त में बीज का बीज ही। वृक्ष से पहिले भी बीज था। सम्पूर्ण वृक्ष में भी बीज व्याप्त था।

फिर बीज होने पर उसमें वृक्ष बनाने की पूर्ण शक्ति है। अनेकत्व मे बीज शक्तिरूप से एकत्व छिपा है। इसी प्रकार सृष्टि के आदि में एक ब्रह्म-ही-ब्रह्म था। वही ब्रह्म सत्त्व, रज और तम इस प्रकार त्रिवृत् प्रधान रूप में परिणित हो गया।"

राजा ने पूछा—"महाराज! ब्रह्म जड़ है या चैतन्य ?"

पिप्पलायन मुनि बोले—"भगवन्! श्रीमन्नारायण तो चैतन्य-घन है। सच्चिदानन्द स्वरूप है।"

राजा ने पूछा—"अच्छा, फिर ये सत्त्व, रज और तम ये जड़ हैं या चैतन्य ?"

मुनि ने कहा—"ये जड़ हैं।"

राजा ने कहा—"चैतन्य से जड़ की उत्पत्ति कैसे हुई। चैतन्य से तो चैतन्य ही होता है। जड़ से जड़। मनुष्य से जो उत्पन्न होगा वह मनुष्य ही होगा। फिर जड़ में तो बढ़ना आदि क्रिया सम्भव नहीं।"

यह सुनकर हँसते हुए पिप्पलायन बोले—"क्यों राजन्! तुम्हारे शरीर से नख बाल क्या उत्पन्न नहीं होते, जब तक उनका चैतन्य के साथ सम्बन्ध है, तब तक जड़ होते हुए भी बढ़ते हैं। उन्हें काटकर देह से पृथक् कर दो या शरीर से प्राणों को पृथक् कर दो उनमे वृद्धि न होगी। इसी प्रकार देह, मन, प्राणादि जड़ होने पर भी चैतन्य के संसर्ग से सब कार्य करते हैं।

राजा ने कहा—"हाँ महाराज समझ गये। चैतन्यघन सच्चिदानन्द ब्रह्म ही त्रिवृत् प्रधान या प्रकृति के नाम से प्रसिद्ध हुआ। फिर क्या हुआ।"

महामुनि पिप्पलायन बोले—"हाँ तो राजन्! वह तो प्रधान सत्त्व, रज और तम रूप होने से प्रधान श्रेष्ठ कहलाया। सत्त्वगुण का कार्य है ज्ञान, रजोगुण का कार्य है क्रिया और तमोगुण का कार्य है दाप लेना। इसलिये वही प्रधान तत्त्व ज्ञानमय होने से

महत्तत्व कहलाता है, क्रियात्मक होने से उसी का नाम सूत्रात्मा है और जीव की उपाधि होने से उसी की अहंकार संज्ञा हो जाती है। फिर वही अहंकार रूप ब्रह्म सत्त्व, रज और तम तीन गुणों के कारण दशों इन्द्रियों के अधिष्ठातृदेव रूप में, दश इन्द्रियों के रूप में, पाँच भूतों के रूप में, पाँच तन्मात्राओं के रूप में भासने लगता है। यह सब होने पर भी उसमें वृद्धि नहीं ह्रास नहीं। जैसे सुवर्ण जब खान में था तब भी सुवर्ण ही था, कनक कुण्डल बन जाने पर भी उसके सुवर्णपने में कोई अन्तर नहीं। कनक कुण्डल कहलाने पर भी चारों ओर से सुवर्ण ही-सुवर्ण है, कनककुण्डल की उपाधि को त्याग देने पर भी सुवर्ण है। वह नाम, रूप, उपाधि से रहित है, सदा रहने वाला है एक रस है, नाम रूप उसका कुछ विगाड नहीं सकते।

इसी प्रकार सत्-असत् दृश्य-अदृश्य तथा इसके परे भी जो कुछ है, वह ब्रह्म-ही-ब्रह्म है, ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं है। कुछ भी किंचित् भी नानात्व नहीं है। उन परमात्मा भगवान् नारायण ब्रह्म का न कभी जन्म होता है न मरण। न वे घटते हैं, न बढते हैं। कोई भी ऐसा स्थान नहीं जहाँ ब्रह्म ठूँस-ठूँस कर भरा न हो। एक कटोरे में जब मुख तक दूध भरा है, तो उसमें दूसरी वस्तु के लिये स्थान ही कहाँ है। इसी प्रकार तनिक भी स्थान खाली नहीं जहाँ ब्रह्म परिपूर्ण रूप से व्याप्त न हो। वे तो सर्वव्यापक हैं, नित्य हैं, शाश्वत हैं अच्युत है तथा ज्ञानस्वरूप हैं।

राजा ने पूछा—"भगवन्! यह तो सब सत्य है, किन्तु हम देखते हैं, एक बालक जन्म लेता है, बालक होता है, फिर युवा हो जाता है, बूढा होकर मर जाता है। तो ये जो परिवर्तन होते हैं, वे किसमें होते हैं। जीव में, ब्रह्म में या शरीर में? आप कहते हैं, ब्रह्म में वृद्धि ह्रास सभव नहीं। सोलह तत्त्वों के रूप में विस्तृत हुआ यह पाञ्चभौतिक त्रिगुणमय चेतनाशक्ति से युक्त

वैसे ही रूप से अनुसरण करते हैं। जैसा देह होता है, वैसे ही प्राण बन जाते हैं। प्राण का देहों से कोई संग नहीं होता शरीर में स्थित रहने पर भी जैसे ज्यों-के-त्यों विशुद्ध बने रहते हैं। इसी प्रकार ब्रह्म सब अवस्थाओं में सबमें साक्षी रूप से स्थित रहने पर भी निर्लेप बना रहता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! हमें आत्मा का अनुभव तो होता नहीं। सम्मुख हमें ये ही शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श सम्बन्धी विषय दिखायी देते हैं, इन विषयों को ग्रहण करने वाली श्रोत्र, चक्षु, रसना, घ्राण और त्वचा इन इन्द्रियों का भी बोध होता है, अहंकार का भी अनुभव होता है, इनके अतिरिक्त आत्मा क्या है?"

हँसकर पिप्पलायन मुनि बोले—"राजन्! यह तो आप नहीं कह सकते, कि हमें आत्मा का अनुभव नहीं होता। सभी प्राणियों को नित्य आत्मा का अनुभव होता है, आत्मानुभाव न हो तो यह प्राणी जीवित ही न रहे। देखिये गाढ़ निद्रा के समय ये बाह्य विषय नहीं रहते। इन्द्रियाँ निश्चेष्ट हो जाती हैं, अहंकार भी लीन हो जाता है। उस समय जीवात्मा परमात्मा से मिलकर सुख का अनुभव करता है, क्योंकि सुख स्वरूप तो भगवान् ही हैं। सोकर उठने पर हम कहते हैं आज तो बड़ी ही मीठी-मीठी नींद आयी सुखपूर्वक सोये। अब सोचिये जब इन्द्रियाँ, मन, अहंकार सभी जहाँ नहीं थे, वहाँ सुख का अनुभव किसने किया? कहना होगा कूटस्थ आत्मा उस अवस्था में भी जागता हुआ उस सुख का अनुभव करता है।"

राजा ने कहा—"महाराज! जब सुषुप्ति अवस्था में यह जीव सुख का अनुभव करता है, तो फिर जागकर मायिक दुखों में क्यों फँस जाता है। वहाँ से तो उसे लौटना ही न चाहिये।"

महामुनि बोले—"राजन्! सुषुप्ति में जीव अज्ञान को साथ लिये रहता है। अज्ञान न हो तो फिर तो उस सुख का नित्य ही अनुभव करे।"

राजा ने कहा—"तो भगवन्! ऐसा ही उपाय बताइये, की वह सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म में नित्य बसने लगे।"

इस पर योगेश्वर पिप्पलायन बोले—"राजन्! जब तक गुण कर्म सम्भूत ये माया के मल चित्त पर चढ़े हैं, तब तक शुद्ध तत्त्व का प्रकाश होना कठिन है। सूर्य भी उदित हैं, आखें भी हैं, किन्तु आखों पर जाला छाया हुआ है, तो सूर्य दिखाई न देगा। किसी योग्य चिकित्सक से अञ्जन लगवा लो। जाले को कटवा लो, फिर सूर्य स्वतः ही दिखायी देने लगेगा। कहीं से लाकर सूर्य न दिखाना पड़ेगा।"

राजा ने कहा—"भगवन्! वही उपाय तो पूछ रहे हैं, यह माया का जाला कैसे कटे? चित्त चितचोर के चारु चरणों में कैसे चिपके?"

इस पर महामुनि पिप्पलायन बोले—"महाराज! कमलनाभ भगवान् वसुदेव के चरणारविन्दों की इच्छा मन में जागृत हो जायगी, तो वही बढ़ी हुई तीव्र भक्ति रूप अग्नि जीव के चित्त पर जमी हुई जाली को जला देगी। विशुद्ध चित्त हो जाने पर ब्रह्म का प्रकाश स्वय ही दिखायी देने लगेगा। अशुद्ध चित्त ही ससार को प्राप्त करता है, वही विशुद्ध बन जाने पर ब्रह्म साक्षात्कार में कारण बन जाता है, अतः आप निरन्तर भगवान् की भक्ति करें। चित्त के शुद्ध होने का भगवान् की भक्ति के अतिरिक्त दूसरा कोई भी सरल सुगम और सर्वोपयोगी साधन नहीं। जो भी कर्म करो, भगवान् के निमित्त करो, यज्ञ रूप श्रीमन्नारायण को प्रसन्न करने के निमित्त कर्म करो। यज्ञ के अतिरिक्त, भगवत् परिचर्या के अतिरिक्त—जो भी कर्म हैं सब

बन्धन के हेतु हैं, पुनः पुनः संसार की प्राप्ति करने में कारण हैं। कर्म तो बन्धन के कारण हैं, किन्तु वे ही कर्म यदि कुशलता पूर्वक किये जाय, तो मुक्ति के हेतु हो जाते हैं। अतः कर्म न करके कर्मयोग करो कर्मों को कुशलता पूर्वक करना ही कर्मयोग कहाता है।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! कर्म कुशलता पूर्वक कैसे किये जाते हैं। किन-किन कर्मों को करे, किन-किन कर्मों को न करे, कृपा करके हमें आप उसी कर्मयोग का उपदेश दें, जिससे इस भवसागर को तर सकें। आप ऐसे ही कर्म हमें बतावें जिनके द्वारा कर्मों को त्यागकर नैष्कर्म्य स्थिति को प्राप्त कर सकें।"

यह सुनकर महामुनि पिप्पलायन कुछ सोचते रहे और फिर कुछ काल के अनंतर बोले—"राजन् कर्मयोग साधारण बात नहीं है। बड़े-बड़े ज्ञानी भी इस विषय में मोहित हो जाते हैं। क्या कर्म है क्या अकर्म है, यह बड़ी कठिन समस्या है।

राजा ने कहा—"भगवन्! यह प्रश्न कठिन तो मुझे भी लगता है। इस विषय में मैं आपको अपना एक अनुभव भी सुनाता हूँ। एक बार जब मैं बालक ही था तब मैं अपने पिता इक्ष्वाकु की गोदी में बैठा था। उसी समय सदा पाँच वर्षकी अवस्था में रहने वाले ब्रह्माजी के पुत्र, सनक, सनंदन, सनातन और सनत् कुमार वहाँ पधारे। ये देखने में बालक से प्रतीत होते थे, सुन्दर सुनहली छोटी छोटी लटाओं से उनका मुखमंडल आवृत्त था, वे चारों के चारों दिगम्बर थे, वे अपने तेज से दशों दिशाओं को प्रकाशित कर रहे थे। ऐसा प्रतीत होता था, मानों चार सूर्य एक साथ प्रकाशित हो रहे हों। उन्हें देखकर मेरे पूज्य पिताजी, मन्त्री, पुरोहित और सभासदों के साथ उठकर खड़े हो गये और उनका स्वागत सत्कार करके सुवर्ण के सिंहासनों पर

विठाया विधिवत् पूजा की। इधर-उधर की शिष्टाचार सम्बन्धी बातें होती रहीं। उसी समय अवकाश देखकर हाथ जोड़कर मैंने उनसे निवेदन किया—"मुनियो! मैं आप से एक प्रश्न करना चाहता हूँ, आज्ञा हो तो करूँ?"

मुनियों ने प्रसन्नतापूर्वक कहा—"अच्छी बात है, करो भैया।"

मैंने नम्रता के साथ कहा—"भगवन्! आप मुझे कर्मयोग का उपदेश करें। मुझे समझावें कर्मयोग क्या है।"

यह सुनकर वे सबके सब मुनिवर मौन हो गये। चारों में से एक ने भी मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। मैंने पुनः दुबारा पूछना धृष्टता समझी। अतः फिर प्रश्न नहीं किया। अब मैं जानना चाहता हूँ, उन सर्वज्ञ मुनियों ने मेरे प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया। क्या कारण है, कि मेरे प्रश्न को सुनकर भी वे सबके सब मौन हो गये। इसका कारण भी बतावें और मेरे प्रश्न का भी कृपा करके उत्तर दे दें। उन मुनियों की भाँति मौन धारण न कर लें।"

यह सुनकर योगेश्वर पिप्पलायन बोले—"राजन्! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर ये मेरे छोटे भाई आविर्होत्र देंगे। ये कर्मयोग मे निष्णात हैं।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक जिज्ञासा भरी दृष्टि से महामुनि आविर्होत्र की ओर देखने लगे। अब जैसे योगेश्वर आविर्होत्र कर्मयोग का उपदेश देंगे उस कथा को मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

त्रिवृत् और महतत्व, सूत्र, हकार, सकल सुर।
करन, अरथ, सत्, असत् ब्रह्म ही सब थल अत्तर॥
साक्षी, चेतन, शुद्ध नित्य कूटस्थ कहावे।
जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति सबनिको दृश्य दिखावे॥
इच्छा जब उतकट बढ़ै, कब पाऊँ प्रभुपद कमल।
करमयोग तैं होहि मन, शुद्ध ब्रह्म दीखै अमल॥

योगेश्वर आविर्होत्र द्वारा कर्मयोग का वर्णन

[१२०८]

कर्माकर्मविकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।
वेदस्य चेश्वरात्मत्वात्तत्र मुह्यन्ति सूरयः ॥*
(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० ४३ श्लोक)

छप्पय

'करमयोग अब कहैं' जनक जब बोले मुनि तैं।
मुनिवर आविरहोत्र विहँसिकें बोले तिनि तैं॥
करमयोग अति कठिन होहिँ मोहित हू ज्ञानी।
करम फंदमें फसे न समुझैं नर अज्ञानी॥
करम करैं निष्काम नित, वेद विहित प्रभु प्रीति हित।
प्रतिमा पूजन प्रेम तैं, करैं होहि तव शुद्ध चित॥

संसार के लिये जो–कामना सहित–कर्म किये जावेंगे, उनसे संसार की ही प्राप्ति होगी, भगवान् के लिये–'निष्कामभाव से–जो कर्म किये जायँगे, वे भगवान् को प्राप्त करावेंगे। बिना सोधे संखिया खाया जायगा तो वह मृत्यु का कारण होगा। शोध-कर–युक्तिपूर्वक कुशलता के साथ–अनुपान पूर्वक जब वही

---

* योगेश्वर आविर्होत्र महाराज जनक से कह रहे हैं—"राजन्! कर्म क्या है, अकर्म क्या है, विकर्म क्या है ये सब विषय वेद के हैं। लौकिक नहीं हैं। वेद ईश्वरात्मक हैं, सो राजन्! इस विषय में बड़े बड़े विद्वान् भी विमोहित हो जाते हैं।"

खाया जायगा, तो सब रोगों को मेटने में कारण होगा। इसलिये जो भी कर्म किया जाय कुशलता से किया जाय, चित्त की बिखरी वृत्तियों को निरोध करके किया जाय, प्रभु प्रीत्यर्थ किया जाय यही साधन है, यही भजन है। इस रहस्य को कर्मासक्त पुरुष नहीं समझ सकते। जो मोक्ष के अधिकारी हो गये हैं वे ही समझ सकते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब महाराज जनक ने कर्मयोग के सम्बन्ध में प्रश्न किया तब उसका उत्तर देते हुए योगेश्वर आविर्होत्र कहने लगे—

"राजन्! कर्म तीन प्रकार के होते हैं। एक कर्म, दूसरा अकर्म और तीसरा विकर्म।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! उनकी व्याख्या कीजिये। हम कैसे जानें कि यह कर्म है या अकर्म अथवा विकर्म?"

मुनि बोले—"राजन्! यह विषय ऐसे नहीं जाना जा सकता। जो कर्म किये जाते हैं वे कर्म हैं कर्मों को छोड़ देना अकर्म है, वेद के विरुद्ध कर्म करना विकर्म है। धर्म का पालन अत्यंत कठिन है, इसलिये लोग धर्म को छोड़कर अधर्म करने लगते हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! यह कार्य धर्म है, यह अधर्म है, इसकी मोटी परिभाषा यही हुई की जो अत्यन्त कठिनता से कर्म हो वह धर्म है, जिसकी ओर इन्द्रियों का स्वभाविक झुकाव हो—जो स्वाभाव वश सरलता से हो जाय—वही अधर्म है।"

यह सुनकर महामुनि आविर्होत्र बोले—"राजन्! यह सत्य है कि धर्म कार्य करने में कठिनता होती है और मांस, मदिरा आदि वेद विरुद्ध कार्यों में स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है, किन्तु यह व्याख्या सर्वथा निर्दोष नहीं है, कि जो कष्ट से किया जाय वह धर्म जो सरलता से प्राप्त हो वह अधर्म। सिंह का मूत्र तो अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होता है, किन्तु उसे प्राप्त करना कोई धर्म

नहीं है, इसके विपरीत गौ मूत्र सुलभता से प्राप्त हो जाता है, पञ्चगव्य घर मे ही प्राप्त हो जाता है, किन्तु पचगव्य को प्राप्त कर लेना धर्म है, जितनी भी प्रायश्चित्तादि विधि हैं उनमे पञ्चगव्य अत्यन्त आवश्यक माना जाता है। इसलिये धर्म-अधर्म की व्याख्या यह रही, वेद जिसे कह दे, वह धर्म है, वेद जिसका निषेध करे वह अधर्म है यह कार्य है, यह अकार्य है इस विषय मे शास्त्र ही परम प्रमाण है। लौकिक पदार्थों से धर्माधर्म कर्माकर्म का ज्ञान नहीं हो सकता।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वेद क्या है? वेद का निर्माण किसने किया?"

मुनि बोले—"राजन्! वेद का निर्माण किसी ने नहीं किया। वेद अनादि हैं, ज्ञान का ही नाम वेद हैं। भगवान् की श्वास ही वेद हैं। वेद भगवान् से भिन्न नहीं, वे भगवद् रूप ही हैं। उनके रहस्य को बाल बुद्धि पुरुष नहीं समझ सकते। जिन्होंने चिरकाल तक महत् पुरुषों की सेवा की हो, वे ही उनके रहस्य को समझ सकते हैं। वेदों के विषय मे बड़े-बड़े विद्वान् भी विस्मित हो जाते हैं। उनकी भी बुद्धि चकरा जाती है, वे भी विमोहित हो जाते हैं। वेदज्ञों द्वारा अधिकारी जिज्ञासु ही कर्म के रहस्य को समझने मे समर्थ हो सकते हैं। आपने पूछा था, कि मैंने बालकपन मे सनकादि मुनियो से कर्मयोग के सम्बन्ध मे प्रश्न किया था, किन्तु उन्होने उत्तर नहीं दिया, वे मौन हो गये। इसका क्या कारण है?" सो, राजन्! उस समय आप बालक थे आप कर्मयोग के रहस्य को समझ नहीं सकते थे। बहुत से लोग वैसा ही इधर-उधर से प्रश्न सुनकर बिना उनकी योग्यता प्राप्त किये पूछ बैठते हैं। उनका उत्तर भी दिया जाय, तो वे समझ नहीं सकते। अतः ज्ञानी लोग ऐसे पुरुषों का प्रश्न सुनकर हँस जाते हैं, मौन हो जाते हैं, इधर-उधर की बात कहकर

टाल देते हैं। उस समय आप इस गूढ़ विषय को समझ नहीं सकते थे, इसलिये नह्मपुत्र सनकादि मौन हो गये। वेद परोत्तवाद है। उसका तात्पर्य तो कुछ है, ऊपर से कहता कुछ है।"

राजा ने कहा—"परोत्तवाद क्या महाराज ?"

मुनि बोले—"राजन्! परोत्तवाद उसे कहते हैं, जो कराना हो, उसे तो छिपाकर कहते हैं, ऊपरी मीठी-मीठी बातें कहकर उस ओर उसकी प्रवृत्ति कराते हैं। जैसे बालक को सुलाना है, वह सोता नहीं। तो उससे कहते हैं अच्छा एक कहानी सुन।"

कहानी बच्चों को बहुत प्रिय है, वह कहता है—"सुनाओ।" माता कहती है—"अच्छा, सुनाऊँगी तो किन्तु खाटपर लेटकर मेरी कहानी को हुँकारी देता जाना।" बच्चा इसे स्वीकार करता है, वह खाटपर लेट जाता है। माता कहती है-"एक राजा था एक उसकी रानी थी, एक उसकी फूल-सी सुकुमारी प्यारी दुलारी, कुमारी थी।" बच्चा बात-बात पर हूँ करता है। जब चित्त एकाग्र हो जाता है, तो तमोगुण के कारण निद्रा आ जाती है। जैसे जप करते-करते, कथा सुनते सुनते निद्रा आने लगती है। बच्चा कहानी सुनते-सुनते सो जाता है। माता का उद्देश्य पूरा हो जाता है। बच्चे के उसे कान छेदने हैं। उसे खाने को गुड़ देती है, गुलगुला देती है। यहाँ उसका तात्पर्य गुड़ खिलाने में नहीं है, मुख्य उद्देश्य तो उसका कान छेदने में है। माता को कोई कड़वी ओषधि बच्चे को खिलानी है, बच्चा वैसे खाता नहीं, तो कहती है 'देख' यदि तू इस ओषधि को पीले, तो मैं तुझे मथुरा के पेड़े दूँगी। देख, मेरे पास ये रखें हैं।" बच्चा पेड़ों के लोभ से उस कड़वी ओषधि को पी जाता है। यहाँ माता का उद्देश्य पेड़ा देने में नहीं था, ओषधि खिलाने में था। कोई सूखी कड़वी ओषधि है, उसे बतासे में रखकर माता कहती है—"बेटा, देख यह कैसा मीठा बतासा है इसे तू बिना चबाये निगल तो जा।"

बच्चा मीठे के लोभ से उसे निगल जाता है, यहाँ माता का अभिप्राय बतासा खिलाने मे नहीं था, बच्चे के पेट मे औषधि पहुँच जाय, इतना ही उसका अभिप्राय था। उसका मुख्य उद्देश्य बच्चे के रोग को निवृत्त करने में है। इसी प्रकार अनादि संस्कारों के वशीभूत होकर जीव जन्म-मरण के चक्कर में फँसकर पुनः पुनः कर्म करता है, पुनः पुनः बन्धन में पड़ता है और मरता जन्मता है। वेद उस कर्मरूपी रोग से छुड़ाना चाहता है। जिस प्रकार बालकों की मीठी-मीठी बातों में, मीठी मीठी रसीली वस्तुओं में स्वाभाविकी प्रवृत्ति है, उसी प्रकार प्राणियों की कर्मों मे स्वाभाविकी प्रवृत्ति है। वह वेद विहित कर्मों को तो करता नहीं, निषिद्ध कर्मों को करता है, उनसे बारम्बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है। अतः वेद निःसंगभाव से ईश्वरार्पण पूर्वक कर्म करने के लिये आग्रह करता है। जो कर्म भगवान् के लिये किये जाते हैं वे भगवान् के हो जाते हैं, भगवान् निष्कर्म है उनमें कर्म नहीं, बन्धन नहीं, अतः उन कर्मों को करने से नैष्कर्म सिद्धि प्राप्ति हो जाती है। भगवान् के निमित्त निष्कामभाव से किया हुआ कर्म बन्धन का कारण नहीं होता। उससे परमसिद्धि प्राप्त होती है।

राजा ने कहा—"वेद मे तो सब कर्म सकाम ही हैं, वहाँ एक बात बताते हैं उसका फल पहिले बताते हैं जैसे श्रुति कहती है "जिसे स्वर्ग की कामना हो, वह अश्वमेध यज्ञ करे।" "पुत्र की कामना हो तो पुत्रेष्टि यज्ञ करे।" अमुक कामना हो तो अमुक कर्म करे। फिर इन कर्मों से नैष्कर्म सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ?"

हँसकर आविर्होत्र मुनि बोले—"राजन्! ये जितनी भी फल श्रुतियाँ हैं केवल वेदोक्त कर्मों में प्रवृत्त कराने के ही निमित्त हैं। जैसे किसी को पुत्र प्राप्ति की उत्कट इच्छा है। जब वह

पुत्र प्राप्ति के लिये प्रयत्न किये बिना तो मानेगा नहीं, झाड़ फूँक करावेगा, सूअर, बकरा, मुर्गा मारेगा, इसलिये वेद कहता है, अच्छा तुम्हें पुत्र की ही कामना है, तो पुत्रेष्टि यज्ञ करो।" अब वह यज्ञ की सामग्री जुटावेगा देवताओं की आराधना करेगा, ब्राह्मणों की सेवा करेगा, धन व्यय करेगा। इन शुभ कार्यों के करने से उसका अन्तःकरण शुद्ध होगा। वेद मन्त्र तो अमोघ हैं, पुत्रेष्टि यज्ञ करेगा, तो पुत्र होगा ही। इससे उसकी वैदिक कर्मों में निष्ठा जमेगी आस्तिकता आवेगी, आज नहीं तो कल, कल नहीं तो परसों उसे मोक्ष की भी जिज्ञासा होगी। तो यहाँ श्रुति का मुख्य तात्पर्य स्वर्ग सुख पहुँचाने में या पुत्र उत्पन्न करने में नहीं है। भगवती श्रुति तो उसके भवरोग को माता की भाँति दूर करना चाहती है, किन्तु त्याग वैराग्य रूपी कड़वी औषध को वह सहसा खाता नहीं, इसीलिये स्वर्गादि फल रूपी मिठाई को लपेटकर उसे वेद विहित कर्म बताती है। सकाम कर्म करते-करते उनमें निष्कामता आ जायगी ईश्वरार्पण विधि से करने से वे मोक्ष के कारण बन जाते हैं। इसलिये वेद विधि से यज्ञ याग करते हुए अन्तःकरण की शुद्धि करना चाहिये। वेद विहित कर्मों के द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर उपासना भली भाँति होती है। तदनन्तर ज्ञान हो जाता है, ज्ञान से मुक्ति होती है। हृदय में अहङ्कार रूप एक ग्रन्थि पड़ गयी है, उससे परमात्मस्वरूप के दर्शन नहीं होते। जब वह हृदय ग्रन्थि खुल जाय तब परावर के दर्शन होते हैं। अतः वेद विधि से विहित कर्मों को करना चाहिये।

राजा ने कहा—"भगवन्! वेद की विधि तो अत्यन्त कठिन है, विशेषकर कलियुग में तो वेद मन्त्रों का उच्चारण करने वाले भी कहीं विरले ही मिलेंगे। यज्ञ करने की शुद्ध सामग्री का भी मिलना कठिन हो जायगा। फिर भगवान् की उपासना कैसे की जा सकती है?"

यह सुनकर आविर्होत्र बोले—"यह आवश्यक नहीं, कि अग्नि में हवन करके ही उपासना करे। वैदिक मन्त्रों से भगवान् की मूर्ति मे पूजन करे। भगवान् के अर्चा विग्रह की पूजा करना सर्वश्रेष्ठ उपासना है। पुरुष सूक्त अथवा अन्य मन्त्रों से मूर्ति पूजा करे। वेदिक मन्त्र उच्चारण करने मे असमर्थ हो, तो तन्त्रोक्त विधि से पूजा करे, तान्त्रिक मत्रो से भगवान् की भक्ति भाव से सेवा करे। अपने गुरुदेव से जाकर मत्र दीक्षा ले, उनकी कृपा को प्राप्त करे, उनसे पूजा करने की विधि सीखे। फिर भगवान् की जो मूर्ति अपने को अत्यन्त प्यारी लगे, उसी मे गुरु की वतायी विधि से श्रद्धापूर्वक विधि विधान से श्रीमन्नारायण की पूजा करे।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैं पूजा की विधि जानना चाहता हूँ। पूजन कैसे किया जाय, किन तन्त्रो के मंत्रो से कौन-सा कृत्य किया जाय, कृपा करके यह सब मुझे समझावें। पूजा पद्धति में लोग अनेक प्रकार की बातें कहते हैं।"

यह सुनकर महामुनि आविर्होत्र बोले—"राजन्! पूजा की विधि अनेक हैं और तन्त्रों में उनका बड़ा विस्तार है, किन्तु मैं आपको अत्यन्त संक्षेप मे विधि बताता हूँ।"

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं—"मुनियो! जिस प्रकार महामुनि आविर्होत्र ने महाराज निमि को पूजा की विधि बताई उसे मैं आगे कहता हूँ, सभी के काम की वस्तु है।"

छप्पय

भीतर बाहर करन शुद्धि करि प्रतिमा सम्मुख।
बैठे प्राणायाम करें तजि जग के सुख दुख॥
पूजा की सब वस्तु यथाक्रम सबई धरिकें।
स्वयं अग करन्यास करै, प्रतिमामहँ करिकें॥
मूल मन्त्र पढ़िकें करै, प्रतिमा पूजन प्रेमतें।
अङ्ग उपाङ्ग सपार्षदहिँ, पूजै नित प्रति नेमतें॥

प्रभु पूजा पद्धति

[१२०६]

एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः।
यजतीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ३ अ० ५५ श्लो०)

छप्पय

पाद्य, अर्घ्य, आचमन, स्नान, नाना, पट भूषन।
गन्ध, पुष्प, तिल, हार, धूप, दीपक, वर व्यञ्जन॥
पुङ्गीफल, तांबूल, दक्षिणा, नीराजन करि।
क्षमा प्रार्थना स्तोत्र दंडवत पृथिवी पै परि॥
यों तन्मय ह्वै के करै, पूजन प्रभु परमेश को।
होवै तबही नाश सब, जन के दुख भय क्लेश को॥

मनुष्यों में एक स्वाभविकी प्रवृत्ति होती है, किसी का पूजन करें किसी से घृणा करें, किसी के सम्मुख नम्रता दिखावें किसी की उपेक्षा करदें। साधक को उपेक्षा करनी हो, घृणा करनी हो तो

---

* महामुनि आविर्होत्र कह रहे हैं—"मुनियो! इस प्रकार जो अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि अथवा अपने हृदय में ईश्वर का भजन करता है, वह अविलम्ब ही संसार से मुक्त हो जाता है।"

अपने दुर्गुण से करे। नम्र होना हो पूजा करती हो तो परात्पर प्रभु की करे, क्योंकि संसार में प्रभु के अतिरिक्त कोई पूजनीय नहीं, कोई वन्दनीय नहीं, कोई अर्चनीय नहीं। पूजा करनी हो, तो विधिपूर्वक करे, जो शास्त्र की विधि का परित्याग करके मनमानी करता है, स्वच्छन्द आचरण करता है, उसे आन्तरिक शान्ति भी नहीं होती, सुख नहीं होता और जिस सिद्धि के लिये वह कर्म कर रहा है, वह सिद्धि भी उसे प्राप्त नहीं होती। अतः जो भी कार्य करे, शास्त्र विधि को समझ कर करे। यद्यपि भगवान् का पूजन कैसे भी किया जाय, उससे अनिष्ट की संभावना नहीं क्योंकि भगवान् जनार्दन भावग्राही हैं, फिर भी जहाँ तक हो सके, विधिपूर्वक ही पूजन अर्चन करना चाहिये क्योंकि विधि-निषेध का वर्णन वेदों में है और वेद भगवन् की आज्ञा है, उनका स्वरूप ही है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! महाराज निमि के पूछने पर योगेश्वर आविर्होत्र पूजा की विधि वताते हुए कह रहे हैं—राजन् पूजन, अर्चन, सेवन, भजन, परिचर्या तथा यजन ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। इनके करने के प्रथम कर्ता को पवित्र होकर पूजा करने का अधिकार प्राप्त करना चाहिये। स्नानादि से शरीर शुद्धि करके, श्रद्धा संयम और सदाचार की भावना से अन्तःकरण को प्रफुल्लित करके तव पूजा करने को आवे। जिस प्रतिमा में पूजन करना हो उसके सम्मुख श्रद्धा सहित आवे। आसन के बिना न वैठे। प्रथम पृथ्वी की प्रार्थना करे—'हे पृथ्वी तुमने सब लोकों को अपने ऊपर धारण कर रखा है, हे देवि! तुम्हें विष्णु भगवान् ने वाराह रूप से धारण किया था। हे माता! तुम मेरे इस आसन को धारण करो और इसे पवित्र कर दो। इस प्रकार प्रार्थना करके आसन पर जल छिड़ककर उसे पवित्र कर ले। तदनंतर तीनवार आचमन करके तीन प्राणायाम करे। प्राणायाम

करने से नाड़ियों में रुका हुआ मल शुद्ध हो जाता है, इस प्रकार प्राणायाम से नाड़ी शुद्धि करके देवपूजन का संकल्प करे। अमुक क्षेत्र में अमुक सम्वत्सर, मास, पक्ष, तिथि, वार, नक्षत्र आदि में प्रभु की प्रीति के निमित्त मैं देवपूजन करता हूँ।" ऐसा संकल्प करके जल छोड़ दें, फिर जिस मन्त्र से पूजन करना हो, उसका अङ्गन्यास करन्यास अपने अङ्गों में करे। क्योंकि स्वयं मन्त्रमय होकर उस मन्त्र से पूजा करनी चाहिये। स्वयं देवस्वरूप होकर देवार्चन करना चाहिये। तदनन्तर हाथ में जल लेकर उसे चारों ओर घुमाकर दिग्वन्ध कर लेनी चाहिये, तब प्रतिमा के सम्मुख बैठकर पूजन करे। पूजा को जो भी सामग्री हो उसे एक बड़े पात्र में सुन्दरता के साथ सजाकर अपने दायीं ओर किसी पीढ़ा या चौकी पर रख लेनी चाहिये, जिससे प्रत्येक वस्तु के लिये बारंबार उठना न पड़े। वस्तुओं को देखकर गिन ले, कि सब वस्तु हैं या नहीं। फिर पूजा के लिये जो एक कलश में जल भरकर रखा है, उसमे गन्ध, पुष्प डालकर उसका पूजन करना चाहिये। शंख मे जल भरकर उसमे चन्दन पुष्प तुलसीदल डालकर उस जल को कलश में डाल देना चाहिये।* इस प्रकार कलश पूजन करके उसी जल को पूजा मे लाना चाहिये। उस जल से पूजा की सामग्री को छिड़क देना चाहिये। घृत का दीपक जलाकर गन्ध,

* कलश मन्त्र—कलशस्य मुखे विष्णुः कण्ठे रुद्रः समाश्रितः।
मूले तस्य स्थितो ब्रह्मा मध्ये मातृगणाः स्मृताः॥
कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तदीपा वसुन्धरा।
ऋग्वेदोऽथ यजुर्वेदः सामवेदोः ह्यथर्वणः॥
अङ्गैश्च सहिता सर्वे कलश तु समाश्रिताः।
मन्त्र गायत्री सावित्री शान्तिः पुष्टिकरी तथा॥
आयन्तु मम शान्त्यर्थं दुरितक्षय कारकाः॥
इस मन्त्र से आवाहन करके मूल मन्त्र से पूजन करे।

अक्षत, पुष्प धूपादि से उस दीप का भी पूजन कर लेना चाहिये।❀ घण्टा शंख पर भी चंदन पुष्प चढ़ाकर पूजा कर लेनी चाहिये

क्योंकि देवताओं के पूजन के पूर्व उनके पार्षदों का पूजन कर लेना आवश्यक है। द्वारपाल की पूजा हो जाने पर देवता की पूजा में

सुगमता हो जाती है। इस प्रकार पूजन की सब तैयारियाँ होने पर पूजन करे।

राजा ने कहा—"महाराज पूजन कैसे करे ?"

महामुनि आविर्होत्र बोले—"राजन्! पूजन के अनेक भेद हैं। उनमें संक्षेप मे पचाङ्ग पूजन होता है और साधारणतया षोडशोपचार पूजन होता है। वेसे तो और भी बहुत बड़े विस्तार हैं। उस विस्तार का मैं वर्णन नहीं करता। पञ्चाङ्ग पूजन मे गन्ध, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य ये पाँच वस्तुएँ होती हैं। ये एक एक वस्तुएँ पाँचो भूतों का प्रतिनिधित्व करती है। षोडशोपचार पूजन में १–आवाहन, २–आसन, ३–पाद्य, ४–अर्घ्य, ५–आचमन, ६–स्नान, ७–वस्त्र, ८–यज्ञोपवीत, ९–चन्दन, १०–पुष्प, तुलसी, ११–धूप, १२–दीप, १३–नेवेद्य, १४–मुख शुद्धि दक्षिणा, १५–आरती १६–नमस्कार प्रदक्षिणा निसर्जन। फिर पुष्पाञ्जलि करके विसर्जन करे। इसमे अनेक मतभेद हैं। उन सबका विस्तार करने से संदेह बढ़ता है, अतः श्रद्धा सहित पूजन करना चाहिये।"

राजा ने कहा—"भगवन्! मुझे इन सबका अर्थ बताइये और किन मन्त्रों से कैसे पूजन किया जाता है, वह समझावें।"

योगेश्वर आविर्होत्र बोले—"राजन्। यह कर्मकाड का विषय

---

* दीपक मन्त्र—भो दीप देवरूपस्त्व कर्मसाक्षी ह्यविघ्नकृत।
यावत् कर्म समाप्तिः स्यात् तावत्त्वं सुस्थिरो भव॥
इस मत्र से आवाहन करके मूल मत्र से पूजन करे।

घटा—आगमार्थं तु देवना गमनार्थंतु रक्षसाम्।
घटानादं प्रकुर्वीत पश्चाद् घण्टा प्रपूजयेत्॥

शख-मंत्र—त्वं पुरा सागरोत्पन्नो विष्णुना विधृतः करे।
निर्मितः सर्वदेवैश्च पाञ्चजन्य नमोऽस्तुते॥
इन मत्रो से आवाहन करके मूल मत्र से पचाग या षोडशोपचार पूजन करे।

बडा विस्तृत है और बड़ा गूढ़ है। इसलिये मैं यहाँ बहुत सक्षेप में इसका वर्णन करूँगा। जिनको वैदिक मन्त्र उच्चारण करने की क्षमता हो, जिन्होंने उन्हें गुरुकुल में रहकर सीखा हो उन्हे तो वैदिक मन्त्रो से षोडशोपचार पूजन करना चाहिये। विशेषकर पुरुषसूक्त के एक-एक मन्त्र को बोलकर एक-एक कृत्य करना चाहिये। वेद मन्त्रों का सबको अधिकार नहीं है। तान्त्रिक मन्त्रो से स्त्री शूद्र सभी पूजन कर सकते हैं, अतः हम यहाँ तान्त्रिक मन्त्रो के द्वारा ही पूजन की विधि बताते हैं।

१—आवाहन

पूजन में सर्व प्रथम आवाहन होता है। जैसे हमारे यहाँ कोई श्रेष्ठ पुरुष आता है, तो उसे देखते ही प्रसन्नता पूर्वक कहते हैं—"आइये, आइये।" आवाहन का अर्थ है, बुलाना सेवा, सत्कार पूजन के लिये आवाहन करना। जो प्रतिष्ठित मूर्ति हैं, शालग्राम हैं, उनमे नित्य आवाहन की आवश्यकता नहीं। नित्य पूजा के चित्रपट मे भी आवाहन की आवश्यकता नहीं आवाहन कर ले तो कोई हानि भी नहीं। हाथ मे अक्षत पुष्प लेकर हाथ जोड़कर कहे—"हे भगवन्! आइये-आइये। इस स्थान पर आकर विराज जाइये। जब तक मैं पूजा करूँ तब तक आप कृपा करके यहाँ स्थिर हो जायँ।* ऐसा कहकर आवाहन करे अक्षत पुष्प छोड़ दे। विष्णु पूजन मे अक्षत निषेध किये हैं उनके स्थान पर सफेद तिल या जव चढ़ावे, नहीं केवल पुष्प ही। कहे—"श्रीमते नारायणाय साङ्गाय सपरिवाराय नारायणम् आवाहयामि या गोपाल कृष्णाय आवाहयामि। जिस देव का भी

* आवाहन मन्त्र—आगच्छ भगवन् देव स्थाने चात्रस्थिरो भव।
यावत्पूजा करिष्यामि तावत्त्वं सन्निधौ भव॥
दोहा—आवें भगवन्! देव हे, यहाँ विराजे आइ।
हौं जब तक पूजा करूँ, सुखी करें हरषाइ॥

आवाहन करना हो।" इसी तरह करना चाहिये।

२—आसन

आवाहन के अनन्तर बैठने को आसन दिया जाता है, जैसे अपने यहाँ श्रेष्ठ पुरुष आते हैं, तो उनसे कहते हैं—'आइये इस आसन को अलंकृत कीजिये।' इसी प्रकार ऐसी भावना करे कि हमारे इष्टदेव आ गये हैं अब उन्हें उत्तम आसन पर बिठावे। हाथ जोड़कर कहे—"हे देव! यह अत्यत रम्य, सुशोभन, दिव्य, सुखकर शुभ आसन है। आपको मैं इसे दे रहा हूँ, कृपा करके इसे ग्रहण करें।* यह कहकर सुन्दर आसन दे। आसन न हो तो शालग्रामजी को तुलसीदल ही आसन के स्थान में चढ़ा दे अथवा आसन रूप मे पुष्प ही अर्पण कर दे। कहे—"आसनं समर्पयामि।"

३—पाद्य

आसन के अनन्तर पाद्य दिया जाता है। पाद्य कहते हैं, पैर धोने के जल को। पहिले ऐसा सदाचार था कि बाहर से कहीं से भी आवें प्रथम पाद प्रक्षालन करके तब अन्य कृत्य किये जाते थे। जो श्रेष्ठ पुरुष आवें उन्हें सर्वप्रथम आसन पर बिठाकर उनके पैर धोने चाहिये। श्रेष्ठ पुरुषों का चरणोदक अत्यंत पवित्र होता है, क्योंकि चरणों मे भगवान् विष्णु का वास है और भगवान् का चरणामृत तो गंगाजल के समान है। श्री गंगाजी की उत्पत्ति भगवान् के चरणारविन्दों से ही हुई है। 'पाद्य का जल लेकर पाद्यं समर्पयामि' ऐसा कहकर जल छोड़ दे। पंचपात्रों मे के पाद्य के पात्र से जल छोड़कर 'शुद्धोदकं समर्पयामि' ऐसा कहकर

---

* आसन का मन्त्र—रम्यं सुशोभनं दिव्यं सर्वसौख्यकरं शुभम्।
आसनं च मया दत्तं गृहाण परमेश्वर॥
दोहा—जैसो कछु तुमने दयो, आसन सुखकर भव्य।
ग्रहण करें यदि आप प्रभु, तो होतें अति दिव्य॥'

शुद्धोदक भी छोड़ दे। पाद्य देते समय यह कहे—'हे देव ! यह कुछ उष्ण निर्मल सुगन्ध संयुक्त जल आपके पाद प्रक्षालन के हेतु मैं दे रहा हूँ इसे आप ग्रहण करें।"*

राजा ने पूछा—"भगवन् ! पंचपात्र क्या ?"

मुनि बोले—'पूजा करने वाले प्रतिमा के सम्मुख पाँच पात्र रखते हैं। एक बड़े पात्र में पाँच कटोरियाँ ताँबे या चाँदी की चतुर्दल कमल की भाँति रखते हैं, बीच में एक बड़ी चारों ओर चार छोटी ऊपर की में पाद्य का जल, दाँयीं में अर्घ्य का जल, नीचे की में आचमन का जल और बायीं में स्नान का जल, तथा बीच की में शुद्ध जल रखते हैं। एक चम्मच रखते हैं। उन कटोरियों में पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय तथा स्नानीय जल उन उनकी सामग्रियों से मिश्रित भरा रहता है।

राजा ने पूछा—"भगवन् ! पाद्य, अर्घ्यादि जलों में कौन-कौन-सी सामग्री डाली जाती है ?"

मुनि बोले—"राजन् ! पाद्य के जल में समा के दाने डालते हैं, दूब विष्णुकान्ता तथा तुलसीदलादि डालते हैं। अर्घ्य के जल में चंदन, पुष्प, जव, कुश, तिल, सरसों दूध, दही आदि डालते हैं। आचमन के जल में कर्पूर, लवंग, जाइफल तथा खस आदि सुगन्धित वस्तुएं डालते हैं। इसी प्रकार स्नान के जल में भी चंदन कर्पूर आदि सुगन्धित द्रव्य डालते हैं। ये सब न हों तो केवल चारों में तुलसी दल चंदन ही डाल दे उस चमची, आचमनी से, जल डालता जाय। एक बार पाद्य दे, फिर शुद्धोदक दे। इस प्रकार पूजा करे। इन पाँचों पात्रों का ही नाम पंचपात्र है। जहाँ

---

* पाद्य का मन्त्र—उष्णोदकं निर्मलं च सर्वं सौगन्ध्यसंयुतम्।
पादप्रक्षालनार्थाय दत्तं मे प्रति गृह्यताम् ॥
दोहा—सर्वेश्वर सुखप्रद सलिल, सब सुगन्ध संयुक्त।
प्रक्षालन पद हित प्रभो ! लेहौ चहौ हौं भक्त ॥

पाँच पात्र न हों, वहाँ एक ही पात्र मे पाँचों की कल्पना करके उसी से पाँचों का काम ले ले। अर्घ्य का जल अर्घा से दे।

राजा ने कहा—"हाँ, भगवन! पचपात्र का अर्थ मैं समझ गया। अब कृपा करके पाद्य से आगे की पूजा विधि बताइये।"

४—अर्घ्य

मुनि बोले—"राजन्! पाद्य के पश्चात् अर्घ्य दे। अर्घ्य कहते हैं आदर देने को यह एक सम्मान की विधि है। अर्घ्य अपने से श्रेष्ठ को ही दिया जाता है, किन्तु राजा, ऋत्विक्, जामाता तथा राजपुत्र ये छोटे होने पर भी अर्घ्य के अधिकारी माने जाते हैं। अर्घा में अर्घ्य की सामग्री सहित जल भरकर तीन बार अर्घ्य दे और कहे—"हे देवदेव! यह गन्ध, अक्षत, पुष्पादि सहित अर्घ्य में आपको देता हूँ, आप इस अर्घ्य को ग्रहण करें। हे देव मैं आप के लिये नमस्कार करता हूँ।* अर्घ्य देकर फिर शुद्धोदक दे। "अर्घ्यं समर्पयामि" यह कहे।"

५—आचमन

अर्घ्य के अनन्तर आचमन करने के लिये जल दे। प्राचीन सदाचार था, कि मुखको शुद्ध करने के लिये प्रत्येक बात पर आचमन करते थे। अपने साथ पात्र में सदा जल रखते थे। प्रातः उठते ही हाथ पर धोकर आचमन करते थे, शौच जाकर शुद्ध होकर आचमन करते थे, स्नान के अनन्तर, कहीं से आने पर, मल मूत्र के त्याग के अनन्तर, अपान वायु के अनन्तर, छींक आने पर, जीभ से चाटने पर, सन्ध्यादि कृत्य करने पर सारांश यह है कि जिन कामों से अशुचि होने की सभावना हो सकती है, उन

---

* अर्घ्य मन्त्र—अर्घ्यं गृहाण देवेश गन्धपुष्पाक्षतैः सह।
करुणां कुरु मे देव गृहाणार्घ्यं नमोऽस्तु ते॥
दोहा—गन्ध, पुष्प अक्षत सहित, जल ले करुणाधाम।
अर्घ्य ग्रहण अच्युत करें, तव पद पदुम प्रनाम॥

सबके अंत में आचमन करते थे। आचमन के अभाव में बायें कान का स्पर्श कर लेते या सूर्य को देख लेते। अर्घ्य के अनन्तर आचमन आवश्यक है। अतः सुगन्धित जल से तीन बार आचमन करावे और यह कहे—"हे परमेश्वर! सब तीर्थों के जलों से युक्त सुगन्धित यह निर्मल नीर आपके आचमन के निमित्त मैं दे रहा हूँ। हे भगवन्! इस जल को ग्रहण करके आप आचमन करलें।‡ "आचमनीय समर्पयामि" ऐसा कहकर आचमन करावे, फिर शुद्ध जल से हाथ धुलावे।"

६ – स्नानजल

आचमन के अनन्तर भगवान् को शुद्ध जल से स्नान करावे। स्नानीय जल देकर यह विनती करे—"गगा, स्वरस्वती, रेवा, पयोष्णी, नर्मदा आदि पवित्र सरिताओं का यह जल है। इससे मैं हे देव! आपको स्नान करा रहा हूँ, जैसे स्नान करने से आप को शान्ति मिलती होगी, वैसे ही मुझे भी शान्ति प्रदान करें।* इन नदियों में से किसी नदी का जल न हो, तो किसी भी जल में इन सब नदियो की भावना कर लेनी चाहिये।

स्नान बहुत प्रकार का होता है, दुग्धस्नान, दधिस्नान, घृतस्नान, मधुस्नान, शर्करास्नान, पचामृतस्नान, तथा शुद्धोदक स्नान

---

‡ आचमन का मत्र—सर्वतीर्थ समायुक्त सुगन्धि निमल जलम्।
आचम्यता मया दत्त गृहीत्वा परमेश्वर॥
उल्लाला—है अति निर्मल नीर यह, गन्ध युक्त सब तीर्थमय।
करहिँ आचमन प्रेम तैं, परमेश्वर हे प्रेममय॥

* जल स्नान मत्र—गगा सरस्वती रेवा पयोष्णी नर्मदा जलैः।
स्नापितोऽसि मया देव तथा शान्ति कुरुष्व मे॥
दोहा—गगादिक सरितानि तैं, लायो जल अति शुद्ध।
मज्जन हे भगवन्! करें, होवें मम मति शुद्ध॥

इनके अतिरिक्त महौषधि, दिव्यौषधि आदि से भी स्नान किये जाते हैं, ये सब स्नान के ही अन्तर्गत हैं इन सब में पञ्चामृत स्नान का अत्यधिक माहात्म्य है, अतः अब हम पञ्चामृत स्नान की ही विधि बताते हैं। शुद्धोदक के अनन्तर दुग्ध स्नान करावे।

दुग्ध स्नान

शुद्ध छने हुए दूध से भगवान् को स्नान करावे और यह विनती करे—"हे देव! यह दूध कामधेनु से उत्पन्न हुआ है, समस्त प्राणियों का परम जीवन है, यज्ञयागादि का कारण है और यह परम पावन है अतः इसे मैं आपके स्नान के हेतु अर्पण कर रहा हूँ।" ऐसा कहकर दुग्ध से स्नान करावे।[1] तदनन्तर दधि से स्नान करावे।

दधिस्नान

दही को लेकर उससे स्नान करावे और यह कहे—"हे देव! यह दही दूध से उत्पन्न हुआ है। चन्द्रमा के समान शुभ्र और स्वच्छ है, कुछ खटाई लिये हुए मीठा है, इसे ग्रहण करें।[2] ऐसी प्रर्थना करके "दधिस्नान समर्पयामि" कहकर दही के स्नान के अनन्तर शुद्धोदक से स्नान करावे, फिर घृतस्नान करावे।

---

१. दुग्धस्नान मन्त्र—कामधेनु समुत्पन्न सर्वेषाञ्जीवन परम।
पावन यज्ञहेतुश्च पय स्नानार्थमर्पितम्॥

दोहा—धेनु प्रभव जीवन सवन, प्राणिनि को आधार।
स्नान हेतु शुभ दुग्धको, अरपूँ अच्युत धार॥

२. दधिस्नान का मन्त्र—पयसस्तु समुद्भूत मधुराम्ल शशिप्रभम्।
दध्यानीत मयादेव स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥

दोहा—दुग्धभूत सुन्दर मधुर, स्वच्छ अम्ल अति स्वाद।
स्वीकारें दधि न्हान हित, भक्त पाइ प्रसाद॥

घृतस्नान

घृत को लेकर उससे स्नान करावे और यह प्रार्थना करे—"हे भगवन् ! यह घृत नवनीत से उत्पन्न हुआ है, प्राणी मात्र को सन्तोष देने वाला है। यज्ञ का यह प्रधान कारण है, घृत के बिना यज्ञादि सम्पन्न नहीं होते, इस परम पवित्र घृत को स्नान के निमित्त आपके लिये अर्पण करता हूँ, हे पूज्य ! आप इसे ग्रहण करें।[1] 'घृतस्नान समर्पयामि' ऐसा कहकर घृतस्नान करावे, पुनर्जलस्नानं समर्पयामि ऐसा कह फिर जल से स्नान करावे। तदनन्तर शहद से स्नान करावे।"

मधुस्नान

मधु को लेकर उसकी धार से स्नान करावे और यह प्रार्थना करे—"हे देव ! यह शहद वृक्षों के पुष्पों से उत्पन्न हुआ है। बड़ा ही स्वादिष्ट है, मधुर है, दिव्य है। तथा तेज और पुष्टिकारक है। उसी को मैं आपके स्नान के निमित्त अर्पण करता हूँ आप इसे ग्रहण करें।[2] 'मधुस्नानं समर्पयामि' ऐसा कहकर मधुस्नान कराके पुनः जल स्नान करावे। तदनंतर शर्करा से स्नान करावे।"

शर्करा स्नान

ईख का रस हो वा शक्कर को जल में घोलकर छानकर उसी से स्नान करावे और प्रार्थना करे "यह शर्करा ईख के सार से बनी

---

१. घृत स्नान मंत्र—नवनीतसमुत्पन्न सर्वसन्तोष कारकम् ।
घृत तुभ्य प्रदास्यामि स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥
दोहा—नूँ नू तैं उत्पन्न शुभ, करैं सबनि सन्तोष ।
स्नान हेतु घृत देहुँ प्रभु, स्वीकारैं निरदोष ॥

२. शहद स्नान का मंत्र—तरुपुष्प समुद्भूत सुस्वादु मधुर मधु ।
तेजः पुष्टिकर दिव्य स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥
दोहा—तरु पुष्पनि सम्भूत मधु, मधुर स्वाद युत श्रेष्ठ ।
तेज पुष्टिकर न्हाइ हित, ग्रहन करैं सुरज्येष्ठ ॥

है। यह पुष्टि करने वाली है, मैल को हरने वाली है और दिव्य है। इसे मैं स्नान के निमित्त दे रहा हूँ कृपा करके आप इसे ग्रहण करें।※ 'शर्करा स्नानं समर्पयामि' पुनर्जल स्नान समर्पयामि ऐसा कहकर शर्करा के स्नान के अनन्तर शुद्ध जल से स्नान करावे। फिर इन पाँचों वस्तुओं से मिले पञ्चामृत से स्नान करावे।

पञ्चामृत स्नान

दूध दही, घृत, शहद, और शर्करा इन पाँचों को मिलाने से पञ्चामृत बन जाता है। इनसे पृथक्-पृथक् स्नान करा चुके अब इन पाँचो को एक करके इनसे स्नान करावे और यह प्रार्थना करे—"हे देव! दूध, दही, घृत,, शहद और शकरा इन पाँच अमृत रूप वस्तुओं से बने पचामृत को मैं आपके स्नान के निमित्त लाया हूँ।' इसे आप ग्रहण करें।' † "पंचामृत स्नानं समर्पयामि" ऐसा कहकर पञ्चामृत स्नान करावे फिर शुद्धोदक से स्नान करावे।

शुद्धोदक स्नान

जिस पात्र में पञ्चामृत से स्नान कराया है,उसमें से प्रतिमा को निकाल ले और शनैः-शनैः श्रीविग्रह से पञ्चामृत की जो वस्तु लगी हो उन्हें हटावे और शुद्ध जल से स्नान कराता हुआ यह प्रार्थना करे—"जो सब पापो को हरने वाला मदाकिनी का पवित्र जल है, उसकी कल्पना मैं इसी जल में किये लेता हूँ, अतः आप

※ शर्करा स्नान मन्त्र—इक्षुसार समुद्भूता शर्करा पुष्टकारिका।
मलापहारिका दिव्या स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥
दोहा—पुष्टि कारिनी मधुर अति, शक्कर मज्जन हेतु।
मैल हारिनी देहुँ हों, स्वीकारें जग-सेतु ॥

† पञ्चामृत स्नान मन्त्र—पञ्चामृत मयानीतं पयोदधि समन्वितम्।
घृत मधुशर्करया स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम् ॥
दोहा—दूध दही, घृत, मधुर मधु, शक्कर पच मिलाय।
पञ्चामृत निरमित करयो, न्हावे प्रभु हरषाय ॥

इस शुद्धोदक को स्नान के निमित्त ग्रहण करें।* 'शुद्धोदकस्नानं समर्पयामि' कहकर शुद्धोदक से स्नान करावे। गन्ध से भी स्नान करावे पुनः जल से स्नान कराके वस्त्र से भली-भाँति पोंछकर आसन पर पधरा दे। फिर वस्त्र अर्पण करे।

८—वस्त्र उपवस्त्र

स्नान के अनन्तर वस्त्र पहिने जाते हैं। पहिले दो वस्त्र पहिनते थे, एक नीचे का वस्त्र एक ऊपर का वस्त्र एक उपवस्त्र हाथ मुँह पोंछने के लिये रखते थे। दो वस्त्र भगवान् को अर्पण करे और यह प्रार्थना करे—'हे देव ! वस्त्र सम्पूर्ण भूषणों से श्रेष्ठ हैं, सुन्दर हैं, मनोहर हैं इनसे लोक लज्जा निवारण होती है। ऐसे ये दो वस्त्र आपके निमित्त मैं अर्पित कर रहा हूँ, आप इन्हें स्वीकार करें।‡

ऐसा कहकर 'वस्त्रम् उपवस्त्रञ्च समर्पयामि' वस्त्र उपवस्त्र अर्पण कर दे। वस्त्र के अभाव में पुष्प अर्पण कर दे अथवा अक्षत अर्पण कर दे। तदनन्तर यज्ञोपवीत अर्पण करे। वस्त्रान्ते आचमनीयं समर्पयामि' वस्त्र अर्पण के अनन्तर आचमन करावे।

९—यज्ञोपवीत

शुद्ध बना हुआ यज्ञोपवीत लेकर उसे भगवान् को अर्पण करे और यह प्रार्थना करे—'हे प्रभो ! यह यज्ञोपवीत नवतन्तुओं

---

* शुद्धोदक स्नान मन्त्र—मदाकिन्यास्तु यद्वारि सर्वपापहरं शुभम्।
तदिदं कल्पितं देव स्नानार्थं प्रतिगृह्यताम्॥

दोहा—पाप हरन पावन परम, सुरसरि को शुभ नीर।
जा जलमहँ कल्पित करयो, न्हावें हे रनधीर॥

‡ वस्त्रार्पण मन्त्र—सर्वभूषाधिके सौम्ये लोकलज्जानिवारणे।
मयोपपादिते तुभ्यं वाससी प्रतिगृह्यताम्॥

दोहा—सुन्दर सुखकर शुद्ध शुभ, पट पहिनें प्रभु आज।
लोकलाज वारण निमित, स्वीकारें सुरराज॥

ग्रहण करें।꣸ 'यज्ञोपवीत समर्पयामि' कहकर यज्ञोपवीत निवेदन करे और आचमन करे। तदन्तर चन्दन अर्पण करे।

१०—गन्ध

सुन्दर सुगन्ध युक्त चन्दन जिसम केशर, कर्पूर, तथा अन्य सुगन्धित वस्तु पडी हो, उसे भगवान् के श्रीविग्रह मे लेपन करे और यह प्रार्थना करे—'हे सुरश्रेष्ठ ! यह श्रीखण्ड चन्दन दिव्य है, गन्ध से युक्त हे मनोहर हे, शरीर पर विशेप रूप से लेपन किया जाता है इसे आप ग्रहण करें।‡ 'गन्ध समर्पयामि' ऐसा कहकर चन्दन लगावे। चन्दन के अनन्तर अक्षत अर्पण करे' भगवान् विष्णु को अक्षत अर्पण करना निपेध है, अतः सफेद तिल अथवा जव अर्पण करे।

अक्षत

अक्षत चतुर्भुज विष्णु के लिये निपेध हैं, द्विभुज राम अथवा कृष्ण के ऊपर चढाये जा सकते है। अथवा सफेद तिल अक्षत के स्थान पर चढावे और यह विनय करे 'हे देवाधिदेव ! ये सुन्दर अक्षत जो केशर मे रॅगे हुए हैं, में इन्हें भक्तिपूर्वक आपको निवेदन कर रहा हूँ आप इन्हे कृपया ग्रहण करें।* अक्ष-

---

꣸ यज्ञोपवीत मन्त्र—नवभिस्तन्तुयुं क्त त्रिगुण देवतामयम् ।
उपवीत मया दत्त गृहाण परमेश्वर ।।
दोहा—त्रिगुण तन्तु नव युक्त शुभ, है अति परम पुनीत ।
हे परमेश्वर प्रेम तें, स्वीकारें उपवीत ।।

‡ गन्ध मन्त्र—श्री खड चन्दन दिव्य गधाढ्य सुमनोहरम् ।
विलेपन सरश्रेष्ठ चन्दन प्रतिगृह्यताम् ।।
दोहा—गन्धयुक्त अति मन हरन, लेपन अति रमनीय ।
स्वीकारें चन्दन प्रभो, परम दिव्य कमनीय ।।

* अक्षत मन्त्र—अक्षताश्च सुरश्रेष्ठ कुंकुमक्ता सुशोभिता ।
मया निवेदिता भक्त्या गृहाण परमेश्वर ।।
दोहा—अक्षत कुंकुमतें रंगे, नहिं टूटे हे ईश ।
स्वीकारें अति कृपा करि, लायो हौं जगदीश ।।

तान् समर्पयामि' ऐसा कहकर चन्दन पर अक्षत लगा दे, ऊपर अक्षत छिडक दे। अक्षतो के अनन्तर पुष्प चढ़ावे।

११—पुष्प

सुन्दर सुगन्धित पुष्प ले आवे, विष्णु भगवान् को धतूरा आक अथवा जिनमे सुगन्धि न हो ऐसे पुष्प न चढाना चाहिये कुन्द को शिवजी पर न चढाना चाहिये। देवी को मदार के पुष्प तथा सूर्य को तगर के पुष्प निषेध हैं। जो पुष्प जल में धो दिये जाते हैं निर्माल्य हो जाते हैं, उन्हे भी देवता पर न चढ़ावे। पहिनने की धोती मे पुष्प, एरंड के पत्तो मे लपेट कर लाया पुष्प तथा दोनों हाथों को केवल अञ्जली मे तोड़कर लाये पुष्पों को देवता पर न चढ़ावे शुद्ध पुष्पों को किसी पात्र में, पत्ते, दोने अथवा शुद्ध पात्र मे तोड़कर लावे और भगवान् पर चढ़ाकर यह प्रार्थना करे 'हे प्रभो! मालती आदि के सुन्दर सुगन्धित ये अमनिया पुष्प मैं आपकी पूजा के निमित्त लाया हूँ इन्हें आप ग्रहण करें।*

'इति पुष्पाणि समर्पयामि' कहकर पुष्प चढ़ा दे फिर पुष्प माला चढ़ावे।

१२—पुष्पमाला

सुन्दर सुगधित पुष्पो से ग्रथित माला को लेकर देवता के कठ में पहिनावे और यह प्रार्थना करे 'हे परमेश्वर! सुगधित पुष्पों के समूह से ग्रथित यह शुभ्रमाला मैं आपकी शोभा बढाने के निमित्त

* पुष्पो का मन्त्र—माल्यादीनि सुगन्धीनि मालत्यादीनि वै प्रभो।
मयानीतानि पुष्पाणि गृहाण परमेश्वर॥
दोहा—ऋतु महँ जंस मिलि सक, पुष्प गन्धयुत भव्य।
पाटल, चम्पक, मल्लिका, स्वीकारं प्रति दिव्य॥

अर्पण करता हूँ, इसे आप स्वीकार करें।"* 'इति पुष्पमाला समर्पयामि' इस प्रकार पुष्पमाला को पहिना कर तुलसीदल भगवान् को अर्पण करे।

तुलसीदल

तुलसीजी के पत्ते तोडे। जिसम चार छ पत्ते लगे हो ऐसे दल को तोड़े। गणेशजी पर तुलसीदल चढाना निषेध है। भगवान् के चरणो में तुलसीदल अर्पित करे और यह प्रार्थना करे- "हे देव! यह तुलसी सुवर्ण के सदृश है, इसकी मजरी रत्नो के समान है, आपकी अत्यत प्यारी होने से 'हरिप्रिया' नाम से यह प्रसिद्ध है, भुक्ति और मुक्ति दोनों को ही प्रदान करने वाली यह है। ऐसी इस तुलसी को में आपके चरणो म अर्पण करता हूँ।‡ 'तुलसीदलानि समर्पयामि' कहकर तुलसीदल चढावे। तुलसी दल के अनन्तर विल्वपत्र भी भगवान् को अर्पण कर सकते हैं। किन्हीं का मत है विल्वपत्र शिवजी को ही अर्पण करे। वैसे तो तुलसी, विल्व, निम्ब, जवीर और आँवला इन पाँचो का ही नाम विल्व है। तुलसी चढाने के अनन्तर इच्छा हो विल्वपत्र चढावे न इच्छा हो न चढावे। हाँ, सूर्यनारायण को विल्व न चढावे। चढाना ही हो तो डडी तोडकर उन्हे भी चढा सकता है।

---

* पुष्प माला मत्र—सुरभि पुष्प निचयं ग्रथिता शुभ मालिकाम्।
ददामि तव शोभार्थं गृहाण परमेश्वर॥
दोहा—नाना सुमननि तें गुँथी, माला शोभा कठ।
करें गृहन करुना अयन अच्युत अज वैकुण्ठ॥

‡ तुलसी मन्त्र—तुलसी हेमरूपा च रत्नरूपाञ्च मञ्जरीम्।
भव मोक्षप्रदा तुभ्यमर्पयामि हरिप्रियाम्॥
दोहा—हेम रूप तुलसी कही, रत्न मञ्जरी रूप।
भुक्ति मुक्ति दैनी प्रिया, प्रभु लेवें सुर भूप॥

दूर्वा

हरी-हरी दूबके अंकुर लेकर भगवान् को अर्पण करे और यह प्रार्थना करे--'हे दूर्वे ! तुम विष्णु आदि सभी देवताओं को अत्यंत ही प्यारी हो, क्षीरसागर से तुम भगवान् को अर्पित होकर उत्पन्न हुई हो । तुम वंश को बढ़ाने वाली हो ।* दूर्वा समर्पयामि, दूर्वांकुरान् समर्पयामि, ऐसा कहकर दूब चढ़ावे । देवी के लिये दूब निषेध है ।

१२—धूप

धूप अनेक प्रकार की बनती हैं एक तो अगरबत्ती बनी बनाई धूप आती है । एक घर में बनाते हैं गुग्गुल, कर्पूर, घृत और चन्दन का चूरा, इसकी बहुत सुगन्धित धूप होती है उसमें अगर, तगर, खस, छार छबीला तथा नागरमोंथा आदि सुगन्धित द्रव्य और मिलने से देवताओं को अत्यंत प्रिय हो जाती है। धूपबत्ती हो तो उन्हे जलाकर उसें बुताकर रखे, जिससे धूँआ निकलता रहे । यदि चूर्ण हो तो जलते कोयलों पर डालकर उसका धूआँ करे । फिर यह प्राथना करे—'यह धूप वनस्पतियों के रस से उत्पन्न हुई है, गन्ध से युक्त है,अत्यंत ही उत्तम गन्धवाली है । सभी देवता इसे सूँघते हैं । हे देवाधिदेव आप मेरे द्वारा दी हुई इस धूप को स्वीकार करें ।‡ 'इति धूपं आघ्रापयामि' ऐसा कह-

---

* दूर्वा मन्त्र—विष्णवादि सर्वदेवानां दूर्वे त्वं प्रीतिदा यदा ।
क्षीरसागर सम्भूते वंश वृद्धिकरी भव ।।
दोहा—कोमल मनहर हरी अति, दूर्वा मङ्गल खानि ।
लेहिं अमृत प्रमना प्रभो, दास आपनो जानि ।।

‡ धूप मन्त्र—वनस्पति रसोद्भूतो गन्धाढ्यो गन्ध उत्तमः ।
आघ्रेयः सर्व देवानां धूपोऽयं प्रतिगृह्यताम् ।।
दोहा—द्रव्य सुगन्धित युक्त करि, कीन्हो निर्मित धूप ।
सूँघें सब सुर सुखद शुभ, स्वीकारें सुरभूप ।।

कर धूप दे। पुनः समीप में स्थापित पुनित दीप को दिखावे।

१३—दीप

देव पूजन में घृत का दीपक प्रशस्त है। घृत का न हो तो तेल का ही जलावे। जब तक पूजन हो साक्षी रूप में दीपक प्रज्वलित रखे। भगवान् से यह प्रार्थना करे—"हे देवेश! घृत में भिगोकर यह बत्ती मैंने अग्नि द्वारा प्रज्वलित की है। आप तो तीनों लोक के अंधकार को दूर करने वाले हैं, फिर भी मेरे द्वारा अर्पित किये हुए इस घृत के दीपक को आप स्वीकार करें।"‡ 'इति दीप दर्शयामि' कह कर दीप का निवेदन करे। दीप अर्पण करने के अनन्तर शुद्ध जल से हाथ धो ले। फिर नैवेद्य अर्पण करे।

१४—नैवेद्य

नैवेद्य में मीठी ही वस्तु लगावे। लड्डू हों, हलुआ हों, मालपुए हों, खोए की बनी मिठाइयाँ हों, और भी जो घृत से बनी वस्तु हो उन्हें नैवेद्य में लगावे। न हो दही चीनी का ही लगा दे। मेवा, फल आदि को भी नैवेद्य के स्थान में लगा सकते हैं। नैवेद्य को सम्मुख रखकर वस्त्र से ओट करके यह प्रार्थना करे—"हे देव! घी, शक्कर से संयुक्त यह अत्यन्त स्वादिष्ट मीठा नैवेद्य है, उपहार से संयुक्त है, इसे आप ग्रहण करें।"❀ 'नैवेद्य निवेदयामि' ऐसा कहकर भगवान् के आगे रखे। सम्मुख रखते समय

‡ दीप मन्त्र—साज्य च वर्तिसंयुक्तं वह्निना योजितं मया।
दीपं गृहाण देवेश त्रैलोक्यतिमिरापह॥
दोहा—घी में बोरी बत्ति वर दई अगिन ते जोरि।
जगतम नाशक देव यह, दीपक देखें दौरि॥

❀ नैवेद्य मन्त्र—शर्करा घृत संयुक्तं स्वादु मधुर चोत्तमम्।
उपहारसमायुक्तं नैवेद्यं प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—घी शक्कर संयुक्त यह, मधुर सहित उपहार।
ग्रहण करें नैवेद्य प्रभु, अधम उधारन हार॥

उसमें तुलसी अवश्य छोड़ दे। तुलसी बिना छोड़े भगवान् ग्रहण नहीं करते। तुलसी उनकी एक प्रकार की छाया है। जिसमें तुलसी पड़ी रहती है, उसे वे समझ लेते हैं, यह हमारे ही लिये है। इस प्रकार नैवेद्य अर्पण करके तीन बार आचमन करावे।

आचमन

नैवेद्य के अनन्तर तीन बार आचमन कराये। कहे 'आचमनीयं समर्पयामि, प्रत्याचमनीयं समर्पयामि, शुद्धाचमनीयं समर्पयामि। आचमन का जल देकर प्रार्थना करे—"हे देव! यह जल अत्यंत तृप्ति करने वाला है, सुगन्ध युक्त है, इसे आप इच्छानुसार पेट भर के पीलें, क्योंकि आपके तृप्त हो जाने पर संपूर्ण जगत् तृप्त हो जायगा। वास्तव में तो आप नित्य तृप्त हैं सनातन हैं।"❀

ऋतुफल

फिर ऋतु के अनुसार जो भी फल मिल जाय, भगवान् के अर्पण करे और निवेदन करे—"हे देव! यह फल मैंने आपके सम्मुख रख दिया है, इससे मुझे जन्म जन्मान्तरों में सफलता प्राप्त होती रहे।" 'फलं समर्पयामि' कहकर फिर आचमन करावे। ❀

ताम्बूल पूंगीफल

नैवेद्य के अनन्तर मुख शुद्धि के लिये पान सुपारी अर्पण करे

❀ आचमन मन्त्र—अति तृप्तिकर तोयं सुगन्धि च पिवेच्छया।
त्वयि तृप्ते जगत्तृप्तं नित्य तृप्ते महात्मनि॥

दोहा—भोजन करि पय पियो प्रभु, परम तृप्ति के साथ।
नित्य तृप्त तुम अखिलपति, अचर सचर के नाथ॥

❀ फल मन्त्र—इदं फलं मया देव स्थापितं पुरतस्तव।
तेन मे सफलावाप्तिर्भवेज्जन्मनि जन्मनि॥

दोहा—तुम दाता सब फलनि के, ये कछु केला सेव।
सफल करो इच्छा सकल, अरपित ये फल देव॥

और यह प्रार्थना करे 'ये पान के पत्ते बडे दिव्य हैं, इनमे सुपारी तथा इलायची आदि का चूर्ण भी पडा है। हे देव ! आप इस सुपारी सहित पान को ग्रहण करें।᪥ ऐसा कहकर पान अर्पण करे। तदनन्तर दक्षिणा द्रव्य भगवान् के सम्मुख रखे।

१५—दक्षिणा

सुवर्ण चाँदी अथवा ताँबे की जैसी भी दक्षिणा रखने की अपनी शक्ति हो, अथवा अक्षत, पत्र, पुष्प, फल जिसकी दक्षिणा प्राप्त हो उसी को अर्पण करके यह प्रार्थना करे-'पूजा के फल की वृद्धि के हेतु हे देव ! यह दक्षिणा मैं तुम्हारे आगे स्थापित करता हूँ, इससे मुझ पर प्रसन्न हो और मेरे समस्त मनोरथो को पूर्ण करो।* 'इति दक्षिणा द्रव्य समर्पयामि।' ऐसा कहकर दक्षिणा रखे।

१६—आरती

अब पूजन समाप्त होने पर आरती करे। एक बत्ती, तीन बत्ती, पाँच बत्ती जलाकर भगवान् की आरती करे। आरती चरणों से की जाती है, चरणो मे चार चार आरती उतारे,नाभि मे दो बार, मुख की एक या तीन बार। सर्वाङ्ग की कम से कम सात बार और अधिक अपनी जितनी इच्छा हो। आरती करते समय भगवान् की विनय करता जाय और कहता जाय चन्द्रमा, सूर्य,

---

᪥ ताम्बूल पुगीफल मन्त्र—पूगी फल महादिव्य नागवल्ली दलर्युतम्।
एलाचूर्णादि सयुक्त ताम्बूल प्रतिगृह्यताम्॥
दोहा—सुन्दर सुखद इलायची, सहित सुपारी पान।
मुख शोधन हित देहुँ प्रभु, स्वीकारं भगवान॥

* दक्षिणा मन्त्र—पूजाफल समृद्धयर्थं दक्षिणा च तवाग्रत।
स्थापिता तेन मे प्रीत पूर्णान् कुरु मनोरथान्॥
दोहा—जो कछु दाता तुम दई, दिव्य दक्षिणा देव।
अवशि ताहि अपनायेंगे, यही आपकी टेव॥

पृथ्वी, बिजली अग्नि तथा सम्पूर्ण ज्योति तुम ही हो। हे प्रभो! मेरी आरती को ग्रहण करो।"ॐ बत्ती की आरती के अनन्तर कर्पूर की आरती करे।

कर्पूर आरती

कर्पूर को जलाकर आरती करे और विनती करे—"हे भगवन्! यह कर्पूर कदली के खंभ से उत्पन्न होता है, इसका प्रदीप बनाकर मैं आरती कर रहा हूँ। हे प्रभो! आप मुझे देखें और मुझे वरदान देने वाले हों।ॐ

स्तुति पुष्पाञ्जलि

आरती के अनन्तर शंख में जल भरकर भगवान् के ऊपर घुमाकर उस जल को भक्तों के ऊपर छिड़के। तदनतर स्तुति करे। स्तुति के अनेक संस्कृत प्राकृतपद हैं, उनमें से जिसे जो प्रिय हों उन्हीं पदों से मन्त्रों तथा श्लोकों से स्तुति करे और कहे—"हे देव! तुम ही मेरे माता, पिता, बंधु, बांधव, मित्र विद्या तथा धन हो। कहाँ तक कहूँ तुम ही हे देव देव! मेरे सर्वस्व हो। मैं पापी हूँ, कर्म जो करता हूँ वह भी पापमय! पाप से ही उत्पन्न हूँ, मेरा मन भी पाप मय है। आपका नाम हरि है, आप सभी पापों को हरण करने में समर्थ हैं, अतः हे पुण्डरीकाक्ष! मेरी रक्षा करो, रक्षा करो, मुझे निष्पाप विशुद्ध बना दो। हे महापुरुष! प्रणतपाल! आपके चरणारविन्द सदा ध्यान करने योग्य हैं, पराभव को नाश करने

ॐ आरती मन्त्र—चन्द्रादित्यौ च धरणी विद्युदग्निस्त्वमेव च।
त्वमेव सर्व ज्योतींषि आर्तिक्यं प्रतिगृह्यताम्॥

आरती पद—आरती श्रीहरिकी कीजै। भक्ति तैं प्रेमामृत पीजै॥
हमारे हरिजी अति प्यारे, हमारे नयननि के तारे।
हमारे वेई रखवारे, चरन तिनिके मैं चित दीजै॥१॥
दिवसमें वेई रविराजें रातमें शशि बनिकें भ्राजें।
तेज सब लखि तिनकूँ लाजें, नेहमें रहैं सदा भीजै॥२॥

वाले हैं, मोहनाशक हैं, इष्ट वस्तु को प्राप्त कराने वाले हैं, तीर्थ स्वरूप ही हैं, शिव और ब्रह्मादि देव सदा जिनकी बन्दना करते हैं, शरण देने वाले हैं, भृत्यों के दुःखों को दूर करने वाले हैं तथा संसार समुद्र के लिये पोत रूप है। ऐसे आपके पादपद्मों को मैं प्रणाम करता हूँ। हे महापुरुष ! हे धर्मिष्ट ! आपके चरणारविन्द पिता दशरथ के वचनो को मानकर, ऐसी दुस्त्यज राज्य लक्ष्मीको छोडकर वन के लिये चले गये। जिसकी इच्छा देवगण भी करते हैं वे ही चरणारविन्द अपनी प्रिया सीताजी के अभीष्ट कपट मृग को पकडने उसके पीछे-पीछे दौडे, उन्हीं आपके पादपद्मों को मैं प्रणाम करता हूँ। श्रीकृष्ण के लिये नमस्कार है,वासुदेव के लिये नमस्कार है, श्रीहरि के लिये नमस्कार है, परमात्मा के लिये नमस्कार है। प्रणतो के क्लेश नाश करने वाले को नमस्कार है, श्री गोविन्द के लिये बार-बार नमस्कार।❀ यह आवश्यक नहीं

भक्तगन मिलिकें सब आओ, नाम गुन प्रभुजीके गाओ।
पूजिकें तुम सब फल पाओ, प्रेमतें चरनामृत लीजे ।।३।।

❀ स्तुति मंत्र—त्वमेव माता च पिता त्वमेव त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव त्वमेव सर्वं मम देव देव ।।१।।

पापोऽहं पापकर्माहं पापात्मा पापसम्भव।
त्राहि मां पुण्डरीकाक्ष सर्वं पापहरो भव ।।२।।

ध्येयं सदा परिभवघ्नमभीष्टदोहम्, तीर्थास्पदं शिवविरिञ्चिनुतं शरण्यम्।
भृत्यार्तिहं प्रणतपाल भवाब्धिपोतम्, वन्दे महापुरुष ते चरणारविन्दम् ।।३।।
त्यक्त्वा सुदुस्त्यज सुरेप्सित राज्यलक्ष्मीम् धर्मिष्ठ आर्यवचसा यदगादरण्यम्
मायामृगं दयित येप्सितमन्वधावत्, वन्दे महापुरुषते चरणारविन्दम् ।।४।।

कृष्णाय वासुदेवाय हरये परमात्मने।
प्रणतक्लेशनाशाय गोविन्दाय नमो नमः ।।५।।

कि इसी प्रकार स्तुति करे, जिन पदों से जिन वाक्यों से हृदय गद्गद हो जाय, जो पद-वाक्य हृदय पर अधिक प्रभाव डालते हों, जो अन्तःकरण को स्पर्श करते हों उन्हीं से स्तुति करे।"

पुष्पाञ्जलि

स्तुति के अनन्तर हाथ मे जो पुष्प हों उन्हें यह कहता हुआ कि 'इस समय जो भी सुगन्धित पुष्प मुझे प्राप्त हो सके हैं, उन्हीं की पुष्पाञ्जलि मैं आपको अर्पण कर रहा हूँ, हे परमेश्वर! इसे आप ग्रहण करें।'※ भगवान के चरणों में चढ़ा दे। पुष्पाञ्जलि के अनन्तर साष्टाङ्ग प्रणाम करे।

दोहा—आयो तुमरी शरन महँ, हे शरणागत नाथ।
बह्यो जाउँ भव सिन्धु महँ, पकरो मेरो हाथ॥ १॥
कबतें हौ भटकत फिरूँ, प्रभु नहिँ दीखत पार।
कृपा करो करुना अयन, तब होवे उद्धार॥ २॥
स्वारथ के सबई सगे, कोइ न पूछत बात।
मेरे तुमई एक हो, मात तात अरु भ्रात॥ ३॥
जाति, बरन, कुल, शील, बल, तें नहिँ रीझैं श्याम।
कृपासाध्य जसुमति तनय, ब्रजवल्लभ घनश्याम॥ ४॥
प्रभो! पाप नितप्रति करूँ, मनतें सोचूँ पाप।
सकलपाप नसि जायँ तब, जब हिय आपो आप॥ ५॥
अघहारी भव दुख दलन, प्रणतपाल अभिराम।
वन्दित अज हर सुरनि तें, तवपद पदुम प्रनाम॥ ६॥
जो तजि सुर इच्छित विभव, वन वन फिरत ललाम।
दयित दलत माया मृगनि, तिनि पद पदुम प्रनाम॥ ७॥
कृष्ण, कृपालो, कृपानिधि, वासुदेव, हरि, श्याम।
प्रणतपाल परमेश प्रभु, पुनि पुनि करूँ प्रनाम॥ ८॥

※ पुष्पाञ्जलि मन्त्र—नाना सुगन्धि पुष्पाणि यथा कालोद्भवानि च।
पुष्पाञ्जलिर्मया दत्तो गृहाण परमेश्वर॥

प्रणाम

देवता को प्रणाम करने के कई भेद हैं। प्रणाम का अर्थ है प्रणत हो जाना, नव जाना। एक प्रणाम तो यह है, हाथ जोड़कर सिर झुकाकर प्रणाम करना, दूसरा पञ्चाङ्ग प्रणाम है। दोनों हाथ, दोनों घुटने और सिर इन पाँचों अङ्गों को भूमि में लगाकर प्रणाम करे। एक साष्टाङ्ग दण्डवत् प्रणाम होता है। जैसे डंडा भूमि पर लेट जाता है वैसे ही सब अंगों से भूमि पर लोट जाना, हाथों को आगे कर देना। यह प्रणाम आठ अङ्गों से किया जाता है—दो पैर, दो हाथ, हृदय, मस्तक, मन और वाणी, इसीलिये इसे साष्टाङ्ग प्रणाम कहते हैं। स्त्रियों के लिये साष्टाङ्ग प्रणाम करना निषेध है, उनकी छाती भूमि में नहीं लगनी चाहिए। चरणों में प्रणाम करते समय सिर को चरण पर रखे, दायें हाथ से दायाँ चरण और बायें हाथ से बायाँ चरण छूकर कहे—"हे प्रभो! जिसमें मृत्यु रूप ग्राह मुँह फाड़े बैठा है, ऐसे इस संसार सागर से मैं डरा हुआ हूँ। मैं प्रपन्न हूँ, आपकी शरण में आया हूँ, अतः आप मेरी रक्षा करें।"* इस प्रकार प्रणाम करके फिर प्रदक्षिणा करे।

प्रदक्षिणा

पूजन के अनन्तर प्रदक्षिणा करे। प्रदक्षिणा कहते हैं अपने दायें हाथ से चारों ओर घूमने को। प्रदक्षिणा सामान्यतया तीन की जाती है, विष्णु की चार करे। शिवजी की आधी परिक्रमा बताई है। शिवजी की जलहरी को लाँघना निषेध है। एक सौ आठ भी

दोहा—सुमन सुगन्धित समय के, अजलि भरपूँ ईश।
समय होहिँ स्वीकृत करें, जगन्नाथ जगदीश॥

* प्रणाम मन्त्र—त्वादयो पतित दीन भक्ति-हीन निराश्रितम्।
प्रपन्नं पाहि मामीश भीत मृत्यु ग्रहार्णवात्॥
दोहा—मृत्यु मकर भव सिन्धु के, तें हौ हूँ अति भीत।
पैरनि महँ प्रभुजी परयो, अभय करें रिपुजीत॥

परिक्रमा करते हैं। प्रदक्षिणा करते-करने यह कहता जाय 'जो भी कुछ इस जन्म के या पूर्व जन्म के किये हुए पाप होंगे वे सब प्रदक्षिणा करते समय पद-पद पर नष्ट हो जायँगे।'❀ इस प्रकार प्रदक्षिणा करे।

क्षमा प्रार्थना

पूजा तो समाप्त हो गई, अब पूजा में त्रुटि रह जाना स्वाभाविक ही है, क्योंकि भगवान् पूर्ण हैं, मनुष्य अपूर्ण है। पूर्ण की अपूर्ण पूजा करेगा तो कितना भी ध्यान रखे, कुछ न कुछ दोष, त्रुटि, अपराध बन ही जाता है, उसे पूर्ण ही पूर्ण कर सकते हैं। अतः दोष निवारणार्थ प्रार्थना करे—'हे जनार्दन! हे देव! मंत्र से हीन, क्रिया से हीन तथा भक्ति से हीन जो भी मैंने पूजा की है वह अपूर्ण पूजा आपकी अनुग्रह से परिपूर्ण हो जाय। मैं आवाहन की विधि नहीं जानता, विसर्जन करना भी नहीं जानता और न विधिवत् पूजा करना जानता हूँ। अतः जो कुछ अपराध बन गया हो उसे हे परमेश्वर! क्षमा करो। हे परमेश्वर आपके अतिरिक्त मेरी अन्य कहीं शरण नहीं है। आप ही एकमात्र मेरी शरण हो। इसलिये। कारुण्यभाव से मेरी रक्षा करो।‡

❀ प्रदक्षिणा मन्त्र—यानि कानि च पापानि जन्मान्तर कृतानि च।
तानि तानि प्रनश्यन्ति प्रदक्षिणया पदे पदे॥
दोहा—जो जो अघ कीये कठिन, जनम जनम के माहिँ।
करत प्रदक्षिण ते सकल, पग पग पै नसि जाहिँ॥

‡ क्षमा प्रार्थना के मन्त्र—मन्त्रहीन क्रियाहीन भक्तिहीन जनार्दन।
यत् पूजित मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे॥
आवाहन न जानामि न जानामि विसर्जन।
पूजा चैव न जानामि क्षमस्व परमेश्वर॥
अन्यथा शरणं नास्ति त्वमेव शरण मम।
तस्मात् कारुण्यभावेन रक्ष मां परमेश्वर॥

समर्पण

जो भी भजन पूजन तथा कर्म करे, अन्त मे उसे भगवान् को ही अर्पण कर दे, क्योंकि भगवान् अनन्त हैं, उनके भडार मे पहुँचने पर वह भी अनन्तता मे मिल जायगा। अतः क्षमा प्रार्थना के अनन्तर कहे—"तन से, मन से, वचन से, इन्द्रियों से, बुद्धि से तथा अहङ्कार के वशीभूत होकर मैंने जो भी कार्य किये हैं अथवा करता हूँ उन सबको श्रीमन्नारायण को समर्पण किये देता हूँ, इस पूजन से श्रीमन्नारायण विष्णु भगवान् प्रसन्न हो।"*

विसर्जन

जिन देवताओं का आवाहन किया जाता है, उसका विधिवत् पूजन करते हैं, फिर अन्त मे उत्तर पूजन करके उन्हे विदा करते हैं, उनका विसर्जन करते हैं। नित्य पूजन के चित्रपट मे, शालग्राम में, प्रतिष्ठित मूर्तियों में न आवाहन किया जाता है न विसर्जन, वे तो उनमे अर्चा विग्रहावतार रूप से नित्य ही विराजमान हैं। उन्हें न बुलाते हैं न विदा करते हैं। नित्य प्रतिष्ठित होने से उनका पूजन ही करते हैं। जिनका विसर्जन करना हो, उनकी गन्धाक्षत धूप दीप नेवेद्य से उत्तर पूजा करके विसर्जन करे और यह

दोहा—नही भक्ति मो मे विभो, मन्त्र त्रिया नहिं ज्ञान।
जो जो त्रुटि प्रभुकी रही, क्षमा करें जड़ जान॥
आवाहन अरु विसरजन, पूजन ज्ञान न मोइ।
कृपासिन्धु की कृपातें, सब परिपूरन होइ॥
अन्य शरन मेरी नहीं, गही तुम्हारी शरन।
दयासिन्धु करिकें दया, अपनाओ दुख हरन॥

समर्पण के मन्त्र—कायेनवाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्धयात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोमि यत्तत्सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयामि॥
अनेन पूजनेन श्रीमन्नारायण विष्णु भगवान् श्रीकृष्णः प्रीयताम्। इद न मम।

कहे—"हे सुरश्रेष्ठ! हे परमेश्वर! इष्ट काम की समृद्धि के निमित्त तथा फिर जब हम आवाहन करें तब आने के निमित्त आप अपने स्थान को जायँ।* ऐसा कहकर अक्षत छोड दे। भगवान् चले गये।

निर्माल्य धारण

भगवान् पर चढी प्रसादी माला, उनके चरणों पर चढा तुलसी तथा पुष्पों को लेकर सिर पर धारण करे, चदन को मस्तक में लगावे और हाथ जोडकर प्रार्थना करे—"हे भगवन्। आपकी भोगी हुई माला, आपके श्रीअग पर चढाये चन्दन तथा आपके वस्त्र और अलङ्कारों को धारण करने से और आपका अवशिष्ट उच्छिष्ट प्रसादी भोजन करके हम सब आपके दास आपकी दुरत्यया माया को अवश्य ही जीत लेंगे।" इस प्रकार प्रसादी, माला, फूल, चन्दन ग्रहण करे।‡

तुलसी ग्रहण

भगवान् के चरणों में चढी तुलसी को ग्रहण करके भक्षण करे। क्योंकि पूजा के अनन्तर जो भगवान् पर चढायी तुलसीदल को भक्षण करता है, उसे सौ चान्द्रायण करने से भी अधिक फल

---

* विसर्जन मन्त्र—गच्छ गच्छ सुरश्रेष्ठ स्वस्थाने परमेश्वर।
इष्टकाम समृद्धयर्थं पुनरागमनाय च॥

दोहा—निज सुख तें कसे कहूँ, पूजित ह्वैकें जाउ।
यदि होवै प्रति विवशता, तो झट जाकें जाउ।

‡ निर्माल्य धारण करने का मत्र- त्वयोपभुक्त स्रग्गन्धवासोलङ्कारचर्चिता
उच्छिष्ट भोजिनो दासास्तव माया जयेमहि॥

दोहा—तुम भोगी माला चढ्यो, चन्दन, पट, लङ्कार।
सीथ प्रसादी पाइ कें, होंगे भवतैं पार॥

होता है ।*

चरणामृत

भगवान् के स्नान कराने के अनन्तर जो उनके चरणों का धोया हुआ तुलसी मिश्रित जल हो, उसकी याचना करे। भगवान् के चरणामृत को अत्यन्त श्रद्धा से ग्रहण करे। सभी कर्मों में श्रद्धा ही प्रधान है। चरणामृत लेते समय उसकी महिमा को बोलता जाय। कहता जाय 'यह भगवान् का चरणामृत अकाल मृत्यु को हरने वाला है, सब व्याधियों को विनाश करने वाला है, ऐसे इस विष्णु पादोदक को जो पान करता है उसका संसार में फिर जन्म नहीं होता।† ऐसी भावना से तीन बार चरणामृत ले। यह ध्यान रखे कि चरणामृत की एक बूंद भी भूमि पर गिरने न पावे। भगवान् के चरणामृत पर यदि लोगों के पैर पड़ेंगे तो बड़ा भारी पाप होगा। इसलिये कपड़े के परत करके उस पर बायें हाथ पर दायाँ हाथ रखकर चरणामृत ले। एक बार लेकर पाले। फिर दुबारा लेकर पीले, तीसरी बार लेकर पीकर उस हाथ को सिर पर पोंछ ले, सिर पर धारण करे।

पञ्चामृत ग्रहण

यदि भगवान् का पञ्चामृत हो तो यह कहे—'इस पञ्चामृत को दुःख दुर्भाग्य के नाश करने के लिये और सभी प्रकार के पापों

---

*तुलसी ग्रहण करने का मंत्र—पूजानन्तर विष्णोरर्पित तुलसी दलम्।
भक्षने देह शुद्धयर्थं चन्द्रायणशताधिकम्॥
दोहा—तुलसी प्रभु चरननि चढ़ी, प्रेम सहित जो खायं।
होइ शुद्ध तन फल सहस, चान्द्रव्रत सम ह्वै जायं॥

†चरणामृत लेने का मंत्र—अकाल मृत्युहरणं सर्वव्याधिविनाशनम्।
विष्णु पादोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥
दोहा—बिनाकालकी मृत्युकूं, टारै अघ नसि जात।
चरनामृत प्रभुको पिये, जनम मरन छुटि जात॥

के क्षय करने के निमित्त मैं पान करता हूँ, इसके पान करने से फिर जन्म नहीं होता। इस भावना से मीठा-मीठा पञ्चामृत जितना चाहे उतना पान करे।

नैवेद्य ग्रहण

चरणामृत अथवा पंचामृत के अनन्तर भगवान् के प्रसाद की नैवेद्य को श्रद्धा सहित ग्रहण करे और उसके माहात्म्य को स्मरण करे—"नैवेद्य के अन्न को जो तुलसी और विशेषकर भगवान् के चरणामृत से युक्त हो उसे जो नित्य ही भगवान् के सम्मुख भक्षण करता है उसे करोड़ों यज्ञों के पुण्यों से भी अधिक पुण्य प्राप्त होता है।" ॐ ऐसी भावना से भगवान् के प्रसाद को प्रेमपूर्वक पूरा पा जाय।

अविर्होत्र मुनि कह रहे हैं—"राजन्! इस प्रकार भगवान् की पूजा करे। प्रतिमा में तो पूजन इस विधि से किया ही जाता है, किन्तु भगवान की भावना से अग्नि, सूर्य, जल, अतिथि अथवा अपने हृदय में विराजमान ईश्वर का जो पूजन करते हैं, वे शीघ्र ही संसार बन्धन से विमुक्त हो जाते हैं। यह मैंने अत्यत संक्षेप में कर्मयोग का वर्णन किया अब आप और क्या क्या सुनना चाहते हैं। श्रीहरि भगवान् अनेक अवतार धारण करके लोक हितार्थ बड़ी मधुर-मधुर लीलाएँ करते हैं। भगवान् की उन्हीं

पचामृत ग्रहण मन्त्र—दु.ख दौर्भाग्य नाशाय सर्वं पापक्षयाय च।
विष्णोः पञ्चामृत पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते॥

दोहा—दुःख और दुरभाग्य हू, सर्व पाप कटि जात।
प्रभु को पञ्चामृत पिये, जनम मरन छुटि जात॥

नैवेद्यग्रहणमन्त्र—नैवेद्यमन्न तुलसी विमिश्रितम्, विशेषतः पादजलेन विष्णोः।
योऽश्नाति नित्य पुरतो मुरारेः प्राप्नोति यज्ञायुतकोटि पुण्यम्॥

दोहा—हरी हरी तुलसीपरी, प्रभु चरनामृत युक्त।
हरि ढिंग प्रभु नैवेद्य जो, पावैं जो जन मुक्त॥

मुनि मनहारिणी मनोहर मूर्तियों का सब लोग पूजन करते हैं।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! मैंने भगवान् के पूजन की विधि तो आपके श्रीमुख से श्रवण करली। अब मैं भगवान् के अवतार चरित्रों के सम्बन्ध में सुनना चाहता हूँ, वे श्रीहरि अपनी इच्छानुसार जैसा चाहते हैं, वैसा रूप रख लेते हैं, उन्होंने जो जो इच्छानुसार अब तक अवतार धारण किये हैं अथवा आगे जिन अवतारों को धारण करेंगे, और उनमें जो-जो लीलायें की हैं या करेंगे या कर रहे हैं, उन सबको मुझसे कहें।"

हँसकर अग्निहोत्र मुनि बोले—"राजन्! अनन्त की अनन्त लीलाओं का वर्णन ही कौन कर सकता है, फिर भी संक्षेप में जो कुछ वर्णन कर सकेंगे, उसे ये मेरे छोटे भाई द्रुमिल करेंगे।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! यह सुनकर महाराज जनक महामुनि द्रुमिल की ओर श्रद्धापूर्ण दृष्टि से देखने लगे। अब वे जैसे भगवत्लीलाओं को कहेंगे उनका वर्णन में आगे करूँगा।"

छप्पय

श्री हरि को निरमाल्य गन्ध माला सिर धारे।
पूजित विग्रह यथाथान धरि नाम उचारे॥
यों जल,थल,रवि, अनल, अतिथि प्रतिमाके माहीं।
यजन कृष्णको करै मुक्ति पद दुरलभ नाहीं॥
अरचन, पूजन, कीरतन, अवतारनिको नित करै।
त्रिभुवनकूँ तारै स्वय, इक्कीस पीढिनि सँग तरै॥

—

योगेश्वर द्रुमिल द्वारा भगवत् लीलाओं का वर्णन

[१२१०]

यो वा अनन्तस्य गुणाननन्तान्,
अनुक्रमिष्यन् स तु बालबुद्धिः ।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथञ्चित्,
कालेन नैवाखिलशक्तिधाम्नः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० ४ अ० २ श्लोक)

छप्पय

भूप कहे—'अवतार चरित सब देव ! सुनाओ ।
द्रुमिल कहें—अब चित्त नृपति मम ओर लगाओ ॥
हैं अवतार अनन्त अन्त वेदहु नहिँ पावें ।
तोऊ कछु कछु गुननि सहित हरि चरित सुनावें ॥
प्रथम पुरुष वेई भये, अज, हरि हर नर नरायन ।
बदरीवनमहँ तप करत, काम क्रोध तैं विगत मन ॥

---

* योगेश्वर द्रुमिल राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन् ! जो पुरुष अनन्त भगवान् के अनन्त गुणों की गणना करना चाहता है वह मूर्ख है, बालबुद्धि है। पृथ्वी के रजकण अनन्त हैं, किन्तु यह सम्भव भी हो सकता है कि उनकी गणना किसी प्रकार बहुत काल मे की भी जा सकती है, किन्तु उन सर्व शक्तिमान् भगवान् के गुणों का कभी कोई पार नहीं पा सकता।"

संसार में सब एक ही बात को सदा कहते हैं, श्रेष्ठ पुरुष कन्या का दान एक ही बार देते हैं, सती एक ही बार पति का वरण करती है, मनुष्य उसी एक भोजन को नित्य करते, व्यसनी एक ही व्यसन को नित्य पुनः पुनः करते हैं। गायक एक ही राग को पुनः-पुनः अलापते हैं। एक ही मित्र को बार-बार देख-कर प्रसन्न होते हैं, एक ही देवमूर्ति के बार बार दर्शन करने जाते हैं, एक ही गंगा में बार-बार स्नान करके भी अतृप्त बने रहते हैं एक ही स्तुति को बार-बार देव के सम्मुख हाथ जोड़कर पढ़ते हैं, एक ही गीता, भागवत अथवा रामायण के पाठ के ऊपर पाठ करते रहते हैं। फिर भी वे ऊबते नहीं है। यह क्या बात है ? कारण यही है कि वास्तविक तत्व तो एक ही है, उसे जो जिस रूप में भजता है उसी रूप में आनन्द आता है। अफीमची उसी तत्व को अफीम के रूप में देखता है, उसे अफीम मिल गयी, तो मानो सब मिल गया, अफीम के बिना वह कैसा छटपटाता रहता है, सुरापी उसे सुरा के रूप मे, कामी उसे काम के रूप में, विषयी विषय के रूप मे, भक्त कृष्ण के रूप में उसी एक का भजन करता है। पुराणों में एक ही बात है, अवतार तत्व अवतार कथा को बार-बार कहकर भी वे पुनरुक्ति दोष का अनुभव नहीं करते। जैसे उपर्युक्त व्यक्ति अपने-अपने विषय का निरन्तर सेवन करने मे पिष्ट पेषण नहीं समझते। भक्तों के लिये एक ही तो श्रवणीय विषय है, वह है अवतार चरित।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने अवतारों की लीला के सम्बन्ध में प्रश्न किया, तब महामुनि द्रुमिल कहने लगे—"अजी राजन्! आप तो एक साथ ऐसे प्रश्न कर देते हैं, जिनका उत्तर देना असम्भव हो जाता है। राजन्! भगवान् तो अनन्त हैं, उनके गुणों की गणना कहो कैसे हो सकती है। जो

सान्त है उसका चरित्र बताया जा सकता है, कहा जा सकता है, उसकी मृत्यु भी है, ऐसे लोगों के जन्म से मृत्युपर्यन्त चरित कहा भी जा सकता है। किन्तु जो अज है, अमर है, अव्यक्त है, उसके चरित्रों का वर्णन ही कैसे किया जा सकता है। यह सम्भव है, आकाश के तारागण गिने जा सकें, समुद्र के जल-कणों की संख्या भी सम्भव हो सकती है, श्रम प्रयत्न करने पर बहुत सम्भव है भूमि के रजकणों की गणना की जा सकती हो, किन्तु भगवान की लीलाओं की गणना सर्वथा असम्भव है।"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! भगवान् नाना अवतार धारण करके इसीलिये ललित लीलायें करते हैं कि जिन्हें सुनकर संसारी लोग इस भवसागर से पार हो जायँ।"'"

द्रुमिल मुनि बोले—"राजन्! अवतार भी एक नहीं हैं, वे भी अनन्त हैं, किन्तु फिर भी उनमें से मैं कुछ अवतारों के सम्बन्ध में कहता हूँ।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! आप बार बार अवतार कथा सुनकर ऊब न जायें। पीछे मैं कई बार अवतारों की कथाओं को कह आया हूँ, किन्तु बार-बार सुनने से ही रस मिलता है। आम को बार बार चूसने से ही रस मिलता है। और भी जो मधुर पेय वस्तुएँ हैं, उन्हें बार-बार पीने से ही उन्माद होता है। बारम्बार कहने पर भी प्रतिबार कुछ न कुछ नूतनता रहती ही है।

शौनक जी ने कहा—"नहीं, सूतजी! आप निश्चिन्त होकर अवतार चरित सुनावें, यही तो हमारा इष्ट है। ये जो राजाओं की अप्सराओं की कथायें बीच-बीच में आ जाती हैं ये सब तो स्वाद बदलने को चटपटी चटनी के समान हैं, जिससे पेट भरे, तृप्ति हो। यह खीर, मालपूआ और पूड़ी के स्थानों में तो अवतार लीला ही हैं।"

सूतजी बोले—'हाँ, महाराज! यही बात है। इसीलिये महा-

राज निमि के पूछने पर योगेश्वर द्रुमिल कह रहे हैं—"राजन! सर्वप्रथम सृष्टि के आदि में पुरुषावतार हुआ।" वेदों में जिनकी महिमा पुरुषसूक्त में गायी गयी है।

राजा ने पूछा—"भगवन्! इस प्रथमावतार का नाम पुरुष कैसे पड़ा।"

मुनि बोले—"राजन्। पञ्चभूतात्म यह ब्रह्माण्ड ही एक पुर है। आदिदेव भगवान् श्रीमन्नारायण इस पुर की रचना करके स्वयं अपने अंशभूत जीव रूप से उसमें प्रविष्ट हो गये। ब्रह्माण्ड रूप पुर में या देह रूप पुरमें शयन करने से ही इनका नाम पुरुष पड़ गया। इनके सहस्र शिर हैं, सहस्र नेत्र हैं, सहस्र पाद हैं। यहाँ सहस्र शब्द उपलक्षण मात्र है। साराश यह है कि जितने शिर, हाथ, पैर, नाक, कान आदि हैं, सब उन्हीं विराट् भगवान् के हैं, उन्हीं के ब्रह्माण्ड रूप शरीर में समस्त संसार का समावेश है। भगवान् की समष्टि इन्द्रियों से ही जगत् के जीवों की व्यष्टि ज्ञान और कर्म इन्द्रियों की उत्पत्ति हैं, उनके स्वरूप से स्वतः सिद्ध ज्ञान होता है। उनका जो श्वास प्रश्वास है, उसी से देहधारियों के देहों में रहने वाली शक्ति बल की, इन्द्रियों में रहने वाली शक्ति ओज की तथा क्रिया करने वाली शक्ति ईहा की उत्पत्ति है। उनके रजोगुण से उत्पत्ति, सतोगुण से स्थिति और तमोगुण से प्रलय होता है। कहने का अभिप्राय इतना ही है कि इन समस्त देहधारियों के आदि कर्ता वे श्रीमन्नारायण ही हैं। पुरुष रूप से उत्पन्न होकर उन्होंने इस ब्रह्माण्ड की मन में कल्पना की। यद्यपि वे निर्गुण हैं, किन्तु जगत् की सृष्टि के लिये उन्होंने माया के गुणों को अपने में स्वीकार किया। क्रिया सदा रजोगुण में होती है, सत्वगुण में शान्त रहते हैं, तमोगुण में शून्यता का अनुभव करते हैं, लोप हो जाते हैं, अदर्शन हो जाता है। अतः जब सृष्टि करने की उन पुरुष प्रभु की इच्छा हुई, तो

उनके रजोगुण के अंश से ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई। अर्थात् अपने रजोगुण को उन्होंने ब्रह्मा रूप में व्यक्त किया। अब जो उत्पन्न किया है, उसकी रक्षा न हो, तो वह व्यर्थ है। रजोगुण का कार्य है कर्म करते रहना। जब तक उसे कोई संयम में न रखे, तब तक वह अपने फल की प्राप्ति न कर सकेगा। जल और खाद डालने से बहुत से पौधे उत्पन्न तो हो गये, किन्तु जब तक माली उनको निरावेगा नहीं, अनावश्यक पौधों को काटकर न फेंकेगा, उनको यथास्थान क्रम से न लगावेगा, तो झाड़ झखार हो जयँगे, सघनवन बन जायेगा, वह मनोहर उद्यान न रहेगा। इसलिये पुरुष भगवान् अपने सत्वांश से संसार के पालन के निमित्त धर्म और द्विजों की रक्षा के हेतु सेतु रूप यज्ञपति विष्णु बन गये। अर्थात् पालन के निमित्त वे ही विष्णु कहलाये।

जो वस्तु उत्पन्न हुई है, उसका विनाश भी अवश्यम्भावी है। नाश तमोगुण से होता है, अतः वे अपने तमोगुण के अंश से सर्गसंहारक रुद्र हो गये। इस प्रकार इस गुण प्रवाह के आदि उद्गम स्थान वे पुरुष भगवान् ही हैं। इस प्रकार प्रजा में उन्हीं के द्वारा निरन्तर उत्पत्ति, पालन और संहार के कार्य होते रहते हैं। यह आदि पुरुष श्रीमन्नारायण के पुरुषावतार का मैंने वर्णन किया। वे अपने तीन रूपों से इस संसार रूप शकट को खींच रहे हैं।"

राजा ने कहा—"महाराज! इस अवतार से हम क्या शिक्षा ग्रहण करें।"

मुनि बोले—"राजन्! यह अवतार प्रवृत्ति का द्योतक है। अर्थात् धर्मपूर्वक अपना परिवार बनाओ, उनका स्वतः कर्तव्य बुद्धि से पालन करो, किन्तु उसे ही सब कुछ समझकर उसमें आसक्त मत हो जाओ। अन्त में उसमें से आसक्ति हटाकर अपने पूर्व यथार्थ रूप का अनुसन्धान करो। किन्तु सबके लिये

प्रवृत्ति मार्ग आवश्यक ही नहीं, इसे ही दिखाने के लिये भगवान् ने तपस्वी रूप में अवतार धारण किया।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! वे निवृति मार्ग का उपदेश देने वाले तपस्वी अवतार कौन से नाम से ससार में प्रसिद्ध हुये ?"

मुनि बोले—"उनका नाम प्रसिद्ध हुआ नर-नरायण। ये धर्म का मूर्ति नामक पत्नी मे दोनों साथ ही साथ प्रकट हुये। ये बड़े ही शान्त, दान्त तेजस्वी और तपस्वी मुनि-श्रेष्ठ के रूप में ससार के सम्मुख आये। ये आत्मतत्व को लक्षित कराने वाले कर्मत्याग रूप कर्म का अर्थात् सांख्य निष्ठ का उपदेश करने वाले हुए। अब तक भी ये अलक्षित भाव से विशालापुरी बदरीवन मे घोर तप कर रहे हैं और जनता के सम्मुख स्वय उस कर्मत्याग रूप कर्म का आचरण करके आदर्श उपस्थित कर रहे हैं। बड़े बड़े ऋषि मुनि इनके चरणों की वन्दना अर्चना करते रहते हैं। यह अवतार त्याग का द्योतक है। त्यागी के लिये ससार में सबसे अधिक काम का विघ्न है। काम सर्व साधारण के सम्मुख किसी प्रकार दबाये भी रह सकता है, किन्तु घोर निर्जन स्थान में कामिनी को देखकर चित्त चञ्चल हो जाना स्वाभाविक है। किन्तु इस अवतार में काम पर विजय प्राप्त करके यह दिखा दिया की मनुष्य के लिये कुछ असम्भव नहीं। यदि वह दृढ़ प्रतिज्ञ है, तो काम को उत्पन्न करने वाली वस्तुएँ उसका कुछ भी बिगाड नहीं कर सकती। इन्होंने काम पर विजय प्राप्त करके इन्द्र को लज्जित कर दिया।"

राजा ने कहा—"भगवन्! इन्द्र को लज्जा क्यों आयी, इन्होंने नर-नारायन भगवान् के साथ क्या स्पर्धा की ?"

मुनि बोले—"बात यह थी, इनके घोर तप को देखकर विषय भोगों को ही सर्वश्रेष्ठ समझने वाले सुरेश के हृदय मे शका हो गयी कि ये तपस्या करके कहीं मेरे वैभवपूर्ण इन्द्र पद को

न ले लें। राजेन्द्र ! बहुत से लोग तप करते हैं, विषय सुखों के लिये। धन का दान करते हैं कि हमें इससे भी श्रेष्ठ धन मिले। दीपक दान करते हैं इसलिये कि हमें इससे श्रेष्ठ प्रकाश मिले। वाहन दान करते हैं कि हमें भव्य विमान मिले। पत्नी का दान करते हैं कि हमें वही फिर सुन्दरी होकर मिले। दासी का दान करते हैं कि हमें ऐसी सहस्रों दासियाँ मिलें। महाराज ! यह व्यापार है। जो ऐसे व्यापार करके बढ़ जाता है उसे दूसरों से भी वही शङ्का बनी रहती है, उसके हृदय में यह बात धँसती ही नहीं कि इससे भी श्रेष्ठ कोई वस्तु है। माया के अधीन होकर देवेन्द्र भगवान् के अभिमत ऐश्वर्य को भूल गये और साधारण तपस्वी समझकर इन्हें तपोभ्रष्ट करने के निमित्त विश्वविजयी कामदेव को दल-बल सहित इनके समीप भेजा।

जब सब देवताओं के राजा इन्द्र की बुद्धि भी चक्कर में पड़ गयी, तब काम, वसन्त आदि साधारण देवों की तो बात ही क्या है, ये सब बदरीवन में पहुँच कर अपना पुराना जाल बिछाने लगे। वसन्त चारो ओर फैल गया, उसका प्यारा सखा मलयानिल सुगन्धि बहाता हुआ मन्द-मन्द बहने लगा। सुर सुन्दरियाँ सुरीली तान छेड़ती हुई कटाक्ष बाणों से बदरीश को वेधने के लिये व्यर्थ की चेष्टायें करने लगीं, रुनुझुनु-रुनझुन नूपुर बजने लगे, कड़े-छड़े खनकने लगे, वीणा वेणु मुरज की स्वर लहरियाँ उठने लगीं, सृष्टि सरसता की वृष्टि करने लगी, प्रकृति थिरकने लगी, काम कलायें कलरव करने लगीं, किन्तु तपस्या में निरत ऋषि प्रवर नर-नारायण के मन में विकार की रेखा भी न खिंच सकी। तब तो वे सब केसब घबराये, आकर बोले—"प्रभो ! रक्षा करो, अपराध क्षमा हो।"

अब तो तपस्वियों के चूड़ामणि हँसकर बोले—"मदन ! तुम्हारा स्वागत है। मन्द मलय मारुत ! आओ-आओ, मत घब-

खाओ, सुस्वादु वन्य फलों को खाओ। देवाङ्गनाओ! नृत्य करते-करते तुम्हें श्रम हो गया होगा, मेरा आतिथ्य ग्रहण करो।"

थर-थर काँपते हुए सब कहने लगे—"दीनबन्धो! कृपा-

सिन्धो ! अपराध क्षमा हो, अविनय, अशिष्टता और धृष्टता के लिये हम लज्जित हैं।"

"तुम मेरा आतिथ्य ग्रहण किये बिना ही प्रस्थान करने को समुत्सुक हो क्या ? नहीं ऐसा मत करो, यह उचित नहीं, यह मेरे आश्रम की शून्यता का द्योतक है मेरे द्वारा प्रदत्त पुष्प और फलों को स्वीकार करो, मुझे कृतार्थ करो।" तपस्वी नारायण मुनि वीणा विनिंदित स्वर मे ये सब वचन एक साथ ही कह गये।

भगवान् के श्रुतमधुर परम पावन दिव्य सुखद वचनों को श्रवण करके सभी परम प्रमुदित हुए। हृदय में उत्पन्न भय अन्तर्हित हो गया, वे सब पंक्तिबद्ध खड़े हो गये और दोनों हाथों की अञ्जलि बाँधकर स्तुति करने लगे—

प्रार्थना

जय नर नारायन नियम परायन जय जय मायातीता।
हम शरन तुम्हारी चूक हमारी छिमहु नाथ ! जगमीता॥
सब सुरगन मानी अति अज्ञानी प्रभुवर अन्तरयामी।
तव दासनि पाहीं भय दुख नाहीं पावहिं परमपद स्वामी॥
तजि छुधा पिपासा विषय विलासा होहिं कोउ आधीना।
ते पारि उदधि करि गैल गरत परि डूबहिं तप करि दीना॥
प्रभु घट घट वासी सब गुनरासी हम सब विषयी देवा।
अब अतिशय कीन्हें, प्रभु नहिं चीन्हे सौंपे स्वामी सेवा॥
जय जय जगदीशा जय सुर ईशा जय जय अभय प्रदानी।
अति विपति हमारी हरि अघहारी हरहु दीन जन जानी॥

द्रुमिल मुनि राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन् ! काम, वसन्त, मलयानिल तथा अप्सराओं की ऐसी विनती सुनकर भगवान् हँस पड़े। हँसते-हँसते उन्होंने अपने उरु में एक क्षुद्र आघात किया, वे सब काम आदि उस आघात के शब्द को देख

कर चौंक पड़े। उन्हें पीछे से छम्म छम्म की सुमधुर अति सरस ध्वनि सुनायी दी। सबने पीछे फिरकर देखा, तो क्या देखते हैं कि विचित्र वस्त्रालङ्कारों से सुसज्जित अद्भुत रूप लावण्यमयी असख्यों अप्सरायें आश्रम में इधर से उधर घूम रही हैं। कोई झाड़ू लगा रही है, कोई लीप रही है, कोई पत्ते बीन रही है, कोई समिधा एकत्रित कर रही है। वे सबकी सब मूर्तिमती कमला के समान प्रतीत होती थीं। जैसे सूर्य के तेज से दीपक का तेज फीका पड़ जाता है, वैसे ही उन सब ललनाओं के लावण्य तेज के सम्मुख स्वर्गीय अप्सराओं का सौंदर्य फीका पड गया। उन्होंने ऐसी सर्वाङ्ग सुन्दरी ललनायें इसके पूर्व कभी देखी ही नहीं थीं। वे सबके सब सोचने लगे—"जब इतनी सुन्दरी-सुन्दरी कुमारियाँ सदा इनकी सेवा में संलग्न रहती हैं और इनके मन को किसी प्रकार का विकार नहीं होता, तो फिर हम इनके मन को विचलित कैसे कर सकते हैं।" सबके सब यही सोच रहे थे कि भगवान् हँसते हुए बोले—"तुम सब देवेन्द्र के कहने से आये हो न ?"

काम ने लजाते हुए कहा—"जी, प्रभो।"

"तो तुम उनके लिये मेरा कुछ उपहार ले जाओगे ?" मन्द-मन्द मुस्कराते हुए नारायण ऋषि बोले।

"जो आज्ञा" वसन्त ने सिर नीचा करके उत्तर दिया।

अत्यंत ही प्रसन्नता प्रकट करते हुए प्रभु बोले—इन सब सुन्दरियों में से जो—तुम्हारे अनुरूप हो—ऐसी एक को तुम छाँट लो और उसे अपने साथ स्वर्ग में ले जाओ। देवेन्द्र को मेरा यह उपहार देना। कहना यह नारायण मुनि ने आपको उपहार दिया है यह सुन्दरी स्वर्ग लोक की भूषण होकर सदा ही रहे।"

अब वे लोग उनमें छाँटते किसे। एक से एक बढ़कर सुन्दरी थी। भगवान् की आज्ञा को श्रद्धा सहित शिरोधार्य करके उनमें से

उर्वशी नामक एक अप्सरा को सब स्वर्गीय अप्सराओं से आगे करके उसे सबकी अग्रणी बनाकर वे सब प्रभु को प्रणाम करने के अनन्तर स्वर्ग लोक को चले गये। वहाँ जाकर जैसा भी कुछ हुआ वह सभी समाचार विस्तार सहित देवेन्द्र को सुनाया। उसे सुनकर सुरपति और सभा में सुनने वाले समस्त सुरगण अति विस्मित और भयभीत हुए। सो राजन्! इन नर नारायण भगवान् ने तपस्वियों का सा वेष बनाकर इस अवतार में कर्म त्याग रूप निवृत्ति मार्ग का उपदेश दिया।

ब्रह्मलोक में एक हंसावतार हुआ। जब ब्रह्माजी से सनकादि मुनियों ने एक प्रश्न किया और ब्रह्माजी उसका उत्तर न दे सके, तो उनके सङ्कट को दूर करने भगवान् हंस स्वच्छ, शुभ्र बनकर वहाँ सभा में प्रगट हुए और उत्तर देकर अन्तर्हित हो गये।

अत्रि पत्नी अनुसूया में भी भगवान् दत्तात्रेय रूप में प्रकट हुए और उन्होंने त्यागमार्ग का उपदेश दिया। सनक, सनन्दन, सनातन और सनतकुमार ये चारों कुमार भी भगवान् के ही अवतार हैं। माया से अलिप्त होकर संसार में कैसे विचरण किया जाता है, यही दिखाने भगवान् चार कुमारों के रूप में ब्रह्मा जी के मानस पुत्र हुए।

राजन्! हमारे पिता भगवान् ऋषभदेव भी भगवान् के अवतार थे, उन्होंने परमहंस धर्म का उपदेश देने को अवतार धारण किया।

भगवान् ने हयग्रीवावतार धारण करके वेदों का उद्धार किया। इन हयग्रीव भगवान् का सम्पूर्ण शरीर तो मनुष्य का जैसा था, किन्तु ग्रीवा से ऊपर का भाग हय-घोड़ा-जैसा था। इसीलिये हयग्रीव नाम से प्रसिद्ध हुए।

भगवान् ने प्रलयकाल में मत्स्यावतार धारण करके प्रलय के समुद्र से मनु की, पृथ्वी की तथा ओषधियों की रक्षा की।

फिर भगवान् ने सूकर अवतार धारण करके दितिनन्दन आदि असुर हिरण्याक्ष का वध किया।

उन्हीं भगवान् ने कछुए का रूप बनाकर समुद्र-मन्थन के समय जल में डूबते हुए मन्दराचल का उद्धार किया।

सूतजी कहते हैं—'मुनियो! महामुनि द्रुमिल ने और अवतारों का जैसा वर्णन किया, उनका अत्यन्त संक्षेप में मैं आगे वर्णन करूँगा।"

छप्पय

हंस और सनकादि ऋषभ हयग्रीव मत्स्य हरि।
कियो अवनि उद्धार वेद वाराह रूप धरि॥
पुनि प्रभु कछुआ बने पीठ मन्दर गिरि धार्यो।
वनि हरि गजकूँ ग्राह वक्रतैं खैंचि उबार्यो॥
बालखिल्य उद्धार करि, इन्द्र शाप रक्षा करी।
असुर वन्दिनी बनीं बहु, सुरललननि विपदा हरी॥

अन्य अवतार चरित

[१२११]

एवंविधानि कर्माणि जन्मानि च जगत्पतेः ।
भूरीणि भूरियशसो वर्णितानि महाभुज ॥*

(श्रीभा० ११ स्क० ४ अ० २३ श्लोक)

छप्पय

कलप कलप मनु भये लयो अवतार सबनिमहँ ।
लयो सुरनिको पच्छ सुरासुर सबहि रन नेमहँ ॥
लै वामन अवतार छले बलि त्रिभुवन पाल्यो ।
परशुराम बनि गये छत्र कुल पापी मारयो ॥
राम रूप तैं उदधि पै, कर्यो सेतु रावन हन्यो ।
जग उद्धारक मुक्तिप्रद, चरितसेतु तातैं बन्यो ॥

संसार में भगवान् अवतार धारण करके अद्भुत और मनहारिणी लीलाएँ न करते, तो यह संसार रौरव नरक बन जाता। संसार में जो भी कुछ सौन्दर्य है, जो भी कुछ ललित चरित हैं सब भगवान् के अवतारों के ही हैं। उनके अंशावतार, कलावतार, आवेशावतार, युगावतार, मन्वन्तरावतार तथा भक्तावतार संसार में शान्ति स्थापित करके माया बद्ध प्राणियों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं।

---

* योगेश्वर द्रुमिल राजा जनक से कह रहे हैं — "राजन्! इसी प्रकार अनन्तकीर्ति जगत्पति भगवान् श्रीहरि के अनेकों अवतार जन्म और कर्मों का विपुल कीर्ति वाले भक्तों ने वर्णन किया है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! अनेकों अवतारों का वर्णन तो मैं संक्षेप में और विस्तर के साथ पीछे कर ही चुका हूँ, अब आगे भी भगवान् और उद्धव के सम्वाद में हंसावतार आदि अवतारों का वर्णन करूँगा। योगेश्वर द्रुमिल ने जिस प्रकार अन्य भगवान् के अवतारों का अत्यन्त संक्षेप में वर्णन किया है, यहाँ तो मैं उसी प्रसङ्ग को कहता हूँ।"

महामुनि द्रुमिल राजा जनक से कह रहे हैं—"राजन! भगवान् ने एक हरि अवतार धारण किया। हरि अवतार धारण करके भिन्न-भिन्न भक्तों की भिन्न भिन्न स्थानों में विपदा हरी।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! हरि भगवान् ने कहाँ कहाँ किसकी विपदा हरी, कुछ चरित्र तो सुनाइये।"

मुनि बोले—"राजन्! भक्तों की विपदा हरने का भगवान् का तो काम ही है। एक दो की विपदा हरी हो तो बताऊँ भी। गज को ग्राह ने ग्रस लिया था। प्रथम तो वह अपने पुरुषार्थ के बल के भरोसे रहा, जब उसका पुरुषार्थ विफल हो गया, डूबने सी लगा, तो उसने सूँड़ में कमल लेकर भगवान् की स्तुति करी। हरि भगवान् ने तुरन्त आकर उसकी विपदा हरी।"

अँगूठे के पोर के सदृश बालखिल्य मुनिगण एक छोटे से जल के गड्ढे में डूबने लगे। वे बहुत छोटे थे, उनके लिये गौ के खुरों से जो गड्ढा हो जाता है, वह भी समुद्र के समान था। जब उन्होंने अन्य कोई शरण न देखी, तो भगवान् श्रीहरि की स्तुति की। तुरन्त भगवान् ने जाकर उनकी रक्षा की, उन्हें उस समुद्र रूप गड्ढे से बाहर निकाला।

देवेन्द्र ने वृत्रासुर ब्राह्मण का वध कर दिया था, इससे उन्हें ब्रह्महत्या लग गयी थी, उसके भय से वे मानसरोवर में जाकर कमल की नाल में छिप गये। तब भी हरि भगवान् ने यज्ञरूप से उनकी रक्षा की, उन्हें ब्रह्महत्या के भय से विमुक्त बनाया।

बल में असुर देवताओं से अधिक बलवान् हो गये। वे देवताओं की सुन्दर सुन्दर अप्सराओं को पाताल मे पकड ले

गये और उन्हें बन्दी बनाकर अपने यहाँ रखा। उन्होंने भगवान् की स्तुति की। शरणागत वत्सल भगवान् ने आकर उनकी रक्षा

की। दानवों को मार कर उन सब वंदिनी सुर ललनाओं को छुड़ाया।

जब हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लादजी को राम नाम लेने पर भाँति-भाँति की यातनायें देने लगा, तब भगवान् ने नृसिंह रूप रखकर असुरराज को मारकर अपने भक्त प्रह्लाद की रक्षा की। यह विचित्रावतार सज्जनों को सदा अभय प्रदान करता रहता है।

जब-जब असुरो ने सुरों से युद्ध किया, तब-तब भगवान् अपने आश्रित सुरों का पक्ष लेकर असुरों से भिड गये और उन आततायी असुरों का वध करके देवताओं तथा इन्द्र की रक्षा की। इस प्रकार प्रत्येक मन्वन्तर में भगवान अजितादि अवतार धारण करके समस्त मन्वन्तर का पालन करते हैं, देवताओं की रक्षा करते हैं, धर्म का प्रचार प्रसार करते हैं।

इस मन्वन्तर मे परम दानी असुरराज वलि ने त्रिभुवन पर अधिकार कर लिया था, इन्द्र को इन्द्रासन से हटा दिया था वह धर्मात्मा था, अतः उसे युद्ध में तो भगवान् मार नहीं सकते थे, अतः छोटे बोने वामन बनकर उसके द्वार पर भिक्षुक बनकर गये। उससे तीन पग पृथ्वी माँगी। उसके देने पर छलिया बन गये, त्रिविक्रम बनकर त्रिभुवनो को नाप लिया। यों छल कपट से देवताओं के गये राज्य को असुरराज वलि से छलकर उन्हें पुनः दे दिया और आप उपेन्द्र बनकर उसका पालन भी करते रहे।

जब हैहयवशी राजा अन्यायी, अत्याचारी, दुराचारी, ब्राह्मण-द्वेषी हो गये थे, तथा अन्य समस्त क्षत्रिय भी उन्हीं के अनुगामी बन गये थे, तब श्रीहरि ने भृगुकुल में परशुराम अवतार धारण करके तीक्ष्ण फरसा उठाया और उससे इक्कोस वार पृथ्वी को क्षत्रिय हीन बना दिया।

वे ही भगवान् अवधपुरी में अवतीर्ण होकर पिता के आदेश से वन में गये। अपनी प्रिया को दशशीश के हर ले जाने पर उन्होंने समुद्र पर सुन्दर सेतु बाँधा, प्रिया के हरण करने वाले राक्षसराज का उसकी सुवर्ण की पुरी लङ्का के सहित विनाश किया। उन अवध कुलमंडन दशरथनंदन, कौशल्या आनन्दवर्धन जानकी जीवन श्रीरघुनन्दन की जय हो सदा विजय हो।

द्रुमिल मुनि कह रहे हैं—"राजन्! सीतापति के अवतार की लीलायें तो हमने देखीं हैं, अब आगे भूमि का भार उतारने के निमित्त भगवान् वासुदेव श्रीकृष्ण रूप में अवतरित होकर भूमि के बढ़े हुए भार को उतारेंगे। पृथ्वी पर प्रकट होकर ऐसे-ऐसे विकट कार्य करेंगे, जो देवताओं के लिये भी दुष्कर हैं।"

पुनः वे ही बुद्ध बनकर उन असुरों को विमोहित करेंगे, जो ब्राह्मण वेप में उत्पन्न होकर यज्ञ के अनधिकारी होने पर भी मृषा यज्ञ याग करेंगे और उनमें जिह्वालोलुपता के वशीभूत होकर नाना प्रकार की अविहित हिंसा करेंगे।

तदनन्तर वे ही वासुदेव कल्कि रूप में अवतार धारण करके जो म्लेच्छ नाम मात्र के राजा बनकर अन्याय और अधर्म का प्रचार करते होंगे उन दुष्टों का वध करके पुनः सत्ययुग की प्रतिष्ठा करेंगे।

द्रुमिल महामुनि कह रहे हैं—"राजन्! आप यह न समझें कि इतने ही अवतार हुए, हैं या इतने होंगे। अवतार असंख्य हैं, उनकी गणना नहीं, सीमा नहीं। उन भूमा भगवान् के श्रीअङ्गसे निरन्तर अवतारों का आविर्भाव होता ही रहता है। संसार मे जो-जो विभूतिमान् श्रीमान् हैं, उन सब में श्रीहरि की कला है। कला तो सभी में है, सभी उनके अंश हैं किन्तु कहीं कला अंश की प्रबलता होने से उनकी अवतार संज्ञा हो जाती है। ऋषि महर्षि सब ज्ञानावतार हैं, ये भक्तवृन्द सब प्रेमावतार

हैं ये परोपकारी महापुरुष सब क्रियाशक्ति के अवतार हैं, इस प्रकार हे विशाल बाहुओं वाले राजन्! भगवान् के अवतारो के अति संक्षिप्त चरित्र मैंने आपसे कहे। उन अतुलकीर्ति अच्युत के अवनि पर अनेकों अवर्णनीय अवतार हुए, उनमे से कुछ का वर्णन किया। सन्तपुरुष और भी बहुत से अवतारो के चरित्रों का गान करते हैं। आपके पूछने पर मैंने अवतारो की कथा कही, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

यह सुनकर राजा ने कहा—"भगवन्! भगवान का भजन तो सभी को करना चाहिये, किन्तु क्या करें भगवन्! य कामनायें प्राणियो को विवश कर देती हैं। मनमे जिस विषय के भोगने की इच्छा प्रबल हो जाती है, तो फिर चित्त ठिकाने नहीं रहता, लोक लाज को तिलाञ्जलि दे देते हैं, गुरुजनों का शील संकोच रहता नहीं। कामनायें मन को व्याकुल बना देती हैं, इन्द्रियाँ विवश बना देती हैं। ऐसी दशा उन्हीं लोगो की होती है, जिन्होंने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त नहीं की। वे लोग निरन्तर काम का ही चिन्तन करते रहते हैं, राम के रूप को वे भूल जाते हैं। ऊपर से ये वेष बना लेते हैं माला खटकाते है किन्तु भीतर ही भीतर काम का चिन्तन करते रहते हैं। ऐसे इन्द्रियों के अधीन हुए भगवान् के चिन्तन से रहित कामियो की कौन-सी दशायें होता हैं, उन्हे मरने पर कौन-सी गति प्राप्त होती है। कृपा करके मेरे इस प्रश्न का उत्तर दें।"

यह सुनकर योगेश्वर द्रुमिल बोले—"राजन्! आपका यह प्रश्न गूढ़ है। नरेन्द्र! ये मेर भाई चमस इस विषय के विशेषज्ञ हैं, वे आपको इस विषय को बड़ी उत्तमता से समझावेंगे। अब आप इन्हीं से इस प्रश्न को पूछें।"

राजा ने कहा—"भगवन्! आप मे से कोई भी मेरे प्रश्न का उत्तर दे। मेरे लिये तो आप सब एक ही रूप हैं। आप सब-के-

सब आत्मज्ञानियों में वरिष्ठ हैं मुनियों मे श्रेष्ठ हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो यह कहकर राजा, योगेश्वर चमस की ओर उत्सुकता भरी दृष्टि से देखने लगे। अब जिस प्रकार महामुनि चमस राजा के प्रश्न का उत्तर देंगे, उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।

छप्पय

कृष्ण रूप धरि करें कलित क्रीड़ा कंसारी।
बुद्ध रूपतैं निरदय हिंसा नाथ निवारी॥
कल्कि लेहिँ अवतार अन्त करि कलिको केशव।
सतयुगको आरम्भ करें करि क्रूरनि निज वश॥
अवतारनिकी कछु कथा, कही अधिक संक्षेपमहँ।
हरि फिरिकें ये हो चरित, सब पुरान अरु वेदमहँ॥

योगेश्वर चमस द्वारा हरि-विमुख जनों की गति का वर्णन

(१२१२)

य एषां पुरुष साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् ।
न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद् भ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥*
(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ३ श्लोक)

छप्पय

निमि पूछें—"प्रभु ! भक्तिहीन गति कैसी पावें ।
कहें चमसमुनि—'नृपति प्रश्नको मरम बतावें ॥
वर्णाश्रम उत्पन्न करें हरि जनक कहावें ।
आदर तिनि नहिँ करें भजें नहिँ ते गिर जावें ॥
जो मोरे अनपढ़ विवश, भक्त तिनहिँ अपनाइकें ।
कथा कीरतन सुलभ करि, तारें नाम सुनाइकें ॥

संसार में तीन तरह के लोग होते हैं । अज्ञ, विज्ञ और धूर्त ।

---

* योगेश्वर चमस राजा निमि से कह रहे हैं—'राजन् ! जो वर्णाश्रमी अपने उत्पन्न करने वाले आदि पुरुष परमेश्वर का भजन नहीं करते अथवा उनका अपमान करते हैं, अनादर करते हैं, वे अपने स्थान से भ्रष्ट होकर नीचे गिर जाते हैं, पतित हो जाते हैं।"

विज्ञ उन्हे कहते हैं, जो साधन साध्य को भली-भाँति समझकर साधनो द्वारा साध्य को पाने के लिये प्रयत्नशील हैं। अज्ञ वे हैं, जो साध्य साधन से अनभिज्ञ हैं, किन्तु उन्हें कोई आग्रह नहीं। सज्जन पुरुष जो उपदेश देते हैं, उनका सरलता के साथ यथाशक्ति पालन करते हैं। ऐसे पुरुष सत्सङ्ग पाकर सुधर जाते हैं। जैसे लोहे मे स्वतः सुन्दर बनने की शक्ति नहीं, किन्तु पारसमणि क ससर्ग से वह सुवर्ण हो जाता है। तीसरे धूर्त होते हैं, जिन्हें पूर्ण ज्ञान तो है नहीं, साध्य साधन का तत्त्वतः तो ज्ञान है नहीं, किन्तु अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिये–विषय भोगो की वृद्धि के लिये–कुछ इधर से सुना कुछ उधर से सुना। कुछ अश यहाँ का याद कर लिया कुछ अन्य स्थान का। ऐसे वे वाक्यों को रटकर वाक्-पटु बन जाते हैं। भोले-भाले लोगों को फँसाकर उन्हें कुछ-का-कुछ समझा देते हैं। शास्त्र का तात्पर्य कुछ है, वे उसका दूसरा ही अर्थ बदल देते हैं। ऐसे ज्ञानलव दुर्विदग्ध मूर्खों को वेदगर्भ भगवान्, लोक पितामह ब्रह्माजी भी नहीं समझा सकते। वे समझने की चेष्टा करें, तब तो समझाया जाय, उनका इष्ट तो है शारीरिक सुख। वह जिस प्रकार प्राप्त हो उसी काम को वे करते हैं। ऐसे लोगों को उपदेश देना उसी प्रकार है जैसे ऊसर में बीज बो देना।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने "भक्तिहीन पुरुषों की कौन-सी गति होती है" यह प्रश्न किया, तब योगेश्वर चमस कहने लगे—"राजन्! पहिले आप यह सोचें कि भगवान् से सबका सम्बन्ध क्या है। वैसे तो भगवान् से जो जैसा सम्बन्ध रखना चाहे भगवान् उसके लिये वैसे ही बन जाते हैं, किन्तु सर्व-साधारण का सम्बन्ध तो उनमें जन्य और जनक का ही है। वर्णाश्रमी चार वर्ण और चार आश्रम मानते हैं। एक वर्णाश्रमेतर पुरुष भी होते हैं। आदि पुरुष श्रीमन्नारायण के सत्वांश से उनके

मुख्य भाग मुख से ब्राह्मण वर्ण की उत्पत्ति है। सत्त्व और रज के मिश्रण से उनकी बाहुओं द्वारा क्षत्रिय वर्ण की उत्पत्ति है। रज और तम के मिश्रण से उनकी जङ्घाओं से वैश्य वर्ण की उत्पत्ति है और तमोगुण के अंश से उनके चरणों द्वारा शूद्र वर्ण की उत्पत्ति है। पृष्ठभाग से वर्णेतर जनों की उत्पत्ति है। इसी प्रकार उन भगवान् के शिरोभाग से संन्यासाश्रम की, वक्षःस्थल से वानप्रस्थाश्रम की, हृदय से ब्रह्मचर्याश्रम की और जघन प्रदेश से गृहस्थाश्रम की उत्पत्ति हुई।

राजा ने पूछा—"महाराज! मुख से क्या झुण्ड-के-झुण्ड ब्राह्मण निकल पड़े। मुख से कैसे उत्पन्न हुए? मुख से उत्पन्न हुए हों, तो ब्राह्मणों को गोल मोल होना चाहिये।"

यह सुनकर महामुनि चमस हँस पड़े और बोले—"राजन्! यह आपने कैसा बेतुका प्रश्न कर दिया। जो जहाँ से उत्पन्न होता है, वह उसी के आकार का थोड़े ही होता है। सीप से मोती उत्पन्न होता है, सीप तिकौनी होती है, मोती गोल होता है। कीच से जल से कमल उत्पन्न होता है। कीच फैली हुई होती है कमल खिला हुआ अनेक पंखुड़ियों का होता है। फिर भगवान् के मुख से ब्राह्मण पुरुष थोड़े ही उत्पन्न हुए। ब्राह्मण वर्ण नाम का एक धर्म उत्पन्न हुआ। जैसे शरीर एक ही है, उसमें सभी अङ्ग उपयोगी हैं, किन्तु मुख उनमें श्रेष्ठ है, मुख में खाने से सभी शरीर के अङ्ग सन्तुष्ट होंगे। इसलिये इसे मुख्य अङ्ग (मुख) कहते हैं। इसी प्रकार वर्णों में ब्राह्मण मुख्य है। जैसे मुख में खाने में सबकी तुष्टि-पुष्टि होती है उसी प्रकार ब्राह्मण को भोजन कराने से सम्पूर्ण समाज का कल्याण होता है। जैसे मुख के तीन मुख्य कार्य हैं—भावों को समझकर उन्हें बोलना, शरीर पोषण के लिये भोजन कर लेना और उद्गार (डकार) लेकर उसकी सूचना दे देना तथा वस्तुओं का स्वाद लेना और उस स्वाद से सभी को

सुख देना। इसी प्रकार ब्राह्मण के भी तीन मुख्य कार्य हैं। वेदों का स्वयं पढ़कर दूसरों को पढ़ा देना, यज्ञ स्वयं भी करना और दूसरों को करा देना। दान लेकर दूसरों को दान देना। यह विप्र-धर्म भगवान् के मुख से उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार जैसे बाहुओं का क्या काम है—जो अन्न आवे उसे मुख में डाल देना, तेल आवे उसे कान में डाल देना, काजर आवे उसे आँखों में डाल देना। अर्थात् अपने को जो कुछ मिले उसे यथायोग्य शरीर के सब अङ्गों में लगाना। किसी भी अङ्ग पर आघात हो, तुरन्त वहाँ पहुँचकर उसकी रक्षा करना। पैर में काँटा लगा, तुरन्त हाथ पहुँच गया। जंघा में चींटी ने काटा, अविलम्ब वहाँ पहुँचकर उसे पकड़ लिया। गुरुजी गाल पर चपत लगाना चाहते हैं, तुरन्त हाथ ने आगे बढ़कर रोक लिया। आँखों में कोई वस्तु पड़ गयी, तुरन्त हाथ पहुँचकर उसकी रक्षा में तत्पर हो गया। इसी प्रकार वेदाध्ययन, यज्ञ और दानादि करते हुए भी समस्त प्रजाओं की दुख से रक्षा करना।

सब स्त्री पुरुषों के शरीर में श्रेष्ठ अङ्ग ऊरुओं के ही आदि में होता है। प्रजा का सृजन उत्पादन वहीं से होता है। श्रम करके सत्यानृत द्वारा द्रव्योपार्जन करके प्रजा की समस्त आवश्यकताओं को पूर्ण करना। इसीलिये समस्त प्रजाओं में वैश्य को श्रेष्ठ माना गया है, अतः उसका नाम श्रेष्ठ (सेठ) है। वह कृषि गोरक्षा तथा वाणिज्य द्वारा प्रजा को अन्न, घृत तथा समस्त आवश्यक वस्तुओं को प्रदान करता है।

चरणों का काम है, सम्पूर्ण शरीर के बोझे को धारण किये रहना। शरीर की रक्षा के निमित्त जहाँ जाना हो वहाँ दौड़कर जाना। सबसे नीचे भूमि पर रहना, शरीर के लिये सब कुछ सहना। यही सेवा प्रधान शूद्र धर्म भगवान् के चरणों से उत्पन्न हुआ। चरणों से पक्ति की पक्ति शूद्र निकल पड़े सो बात नहीं। समाजरूपी शरीर के अङ्गोंसे तत्तद्गुणों वाले चार धर्म उत्पन्न हुए।

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! वर्णधर्म की उत्पत्ति की बात तो मैं समझ गया, अब आश्रम धर्म की उत्पत्ति की बात और समझावें।"

मुनि बोले जिसमें चारों ओर से परिश्रम करना पड़े और उस परिश्रम से प्रसन्नता हो यही आश्रम शब्द का अर्थ है। सन्यास धर्म की उत्पत्ति भगवान् के सिर से हुई। शरीर में सिर ही मुख्य है। किसी के हाथ, पेर, जघा नाक, कान काट दो तो वह किसी प्रकार जीवित रह सकता है, किन्तु यदि सिर कट जाय, तब तो वह किसी भी प्रकार जीवित नहीं रह सकता। इसी प्रकार सन्यासी का मुख्य धर्म है त्याग। ग्रहण करने की प्रवृत्ति तो स्वाभाविक ही है, किन्तु श्रम करके त्याग की संन्यास की दीक्षा लेनी चाहिये। त्याग ही मुख्य है, यही धर्म भगवान् के शिर से संन्यास आश्रम धर्म के रूप में उत्पन्न हुआ। संन्यासी जितना ही अधिक त्याग करेगा उसे उतना ही अधिक सुख प्राप्त होगा।

वानप्रस्थ धर्म की उत्पत्ति भगवान् के वक्षःस्थल से हुई है। वक्षःस्थल में सुख होता है सम्मिलन से। सम्मिलन सुख होता है तपने से प्रतीक्षा से, हृदय जिसके लिये जितना ही तपेगा, द्रवित होगा उसके मिलने मे उतना ही अधिक सुख होगा। इसलिये वानप्रस्थ का मुख्य धर्म है तप। जो वानप्रस्थी जितना ही अधिक घोर तप करेगा उसे उतना ही अधिक सुख होगा।

गृहस्थ धर्म की उत्पत्ति है भगवान् के उरुओं से, इसलिये जिस गृहस्थ के यहाँ वर वर्णिनी वरोरु नहीं वह गृहस्थ नहीं। गृहस्थ धर्म होता है मिथुन से—दो—से जोड़े से। जैसे शरीर में सिर एक होता है वैसे ही संन्यासी को अकेले रहना चाहिये, वक्षःस्थल वैसे तो एक ही है किन्तु उसके दो पृथक पृथक भाग होते हैं, इसी प्रकार वानप्रस्थी को भी अकेले ही रहना चाहिये, यदि सपत्नीक रहे, तो सर्वथा पृथक् होकर रहे। ऊरु सदा दो होते

हैं। इसलिये पति-पत्नी दो होनी चाहिये। दो होकर भी उनमें जितनी ही अधिक एकता होगी गृहस्थ मे उतना ही अधिक सुख होगा। जेसे प्राणिमात्र की उत्पत्ति शरीर के मध्य भाग उरुओं से है वसे ही सभी आश्रमो की उत्पत्ति गृहस्थाश्रम से ही हे। गृहस्थी हा अन्य तीनो आश्रमो को उत्पन्न करके उनका धर्म पूर्वक पालन भी करता है।

ब्रह्मचर्य की उत्पत्ति भगवान् के हृदय से है। जो जैसा हृदय का होता है, उसका सम्पूर्ण व्यवहार भी वेसा ही होता हे। हृदय हा मुख्य हे। जो हृदय-हीन है वह जड हे। इसलिए जिस ब्रह्मचारी का हृदय जितना ही अधिक शुद्ध होगा वह उतना ही सुखी होगा। सो राजन्! ये चारों वर्ण, चारो आश्रम भगवान् के अङ्गो से उसी प्रकार उत्पन्न हुए हैं जैसे पिता के अङ्गों से पुत्रों की उत्पत्ति होती हे। अब आप ही बतावें सब वर्ण और सब आश्रम के नर-नारियों के भगवान् पिता हुए या नहीं।

राजा ने कहा—"हाँ, महाराज! पिता ही क्यों परम पिता हुए। पिता माता दोनो ही हुए।"

मुनि बोले—"राजन्! जब आदि नारायण भगवान् सबके उत्पत्ति स्थान हैं, पिता हैं, तो जो उनका पूजन न करेगा, उसकी उन्नति केसे होगी। वृद्धि तो उसकी होती है, जो अपने उत्पन्न करने वालों के प्रति सदा आभारी बना रहता है। जो उसका अनादर करता हे, उसको भूल जाता हे उसका पतन अनिवार्य है। इसी मे आपके प्रश्न का उत्तर हो गया। आपने यही तो पूछा था कि जो भगवान् का भजन नहीं करते उनकी क्या गति होती है। राजन्! उनकी गति क्या होती हे, दुर्गति होती है, उनका पतन हो जाता है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! आप तो शास्त्रों की बातें बता रहे हैं। बहुत से ऐसे भी पुरुष हैं, जिन्होंने शास्त्र सुने नहीं। उनकी

शास्त्रों मे श्रद्धा नहीं सो बात नहीं, किन्तु उन्हे शास्त्र सुनने की शास्त्राय कर्म करने की सुविधायें नहीं, अधिकार नहीं, उनका उद्धार कैसे हो। बहुत से शूद्र हैं, वदिक कर्मों में उनका अधिकार नहीं। स्त्रियाँ हैं, बालकों के भरण पोषण में गृहस्थी के कामो में लगी रहती हैं। मासिकधर्म हो जाने पर वे सभी शुभ कर्मों से वञ्चित हा जाती हैं, ऐसे लोगों के लिये क्या उपाय हैं, वे कथा कीर्तन से भी दूर रहते हैं।"

मुनि बोले—"राजन्! ऐसे लोगो का आप जैसे भगवद्-भक्तों के द्वारा ही उद्धार हो सकता है। भगवान् के भक्त बड़े दयालु होते हैं, वे गाव गाँव मे जा जाकर भगवान् का कीर्तन करते हैं, भागवती कथाओं को सुनाते हैं, भगवद्भक्तों के अतिरिक्त उनका कोई अन्य अवलम्ब नहीं। इन वृक्षों का उद्धार कैसे होगा, भगवद्भक्त इनके नीचे बैठकर कीर्तन करते हैं, भगवान् का नाम सुनाते हैं, इनका उद्धार हो जायगा। भक्तों के शरीर का गन्ध से जीवों का उद्धार होता है। भगवद्भक्त कृपा करके जिसे छू दें तो उनके सुखद स्पर्श से जीवों को शान्ति मिलती है। निष्काम भगवद्भक्तों को अपने लिय तो कुछ कामना होती नहीं। ये जीव भटक रहे है, अशान्त बने छटपटा रहे हैं, इनकी छटपटाहट को दूर करने वे घूमते हैं, कीर्तन करते हैं, हरि-चर्चा सुनाते हैं। उनके ही द्वारा ऐसे लोगों का उद्धार होता है। यह तो उनकी बात हुई जो अज्ञ है, स्वय शास्त्रीय कर्मों को करने में असमर्थ हैं। जो विज्ञ हैं, उनके सम्बन्ध मे तो कहना ही क्या? वे आत्मविश्वास से, शास्त्रों के वचनों पर श्रद्धा रखने से वेदविहित कर्मों के करने से तर जायँगे, किन्तु जिन्हे जन्मना शास्त्र के पठन पाठन का पूर्ण अधिकार प्राप्त है जो द्विजाति भी हैं, जिन्हे यज्ञोपवीत आदि श्रौत स्मार्त कर्मों का पूर्ण अधिकार भी है, फिर भी

वे भगवद्भक्ति से रहित ही बने रहते हैं उन्हें भी प्रभुप्रेम की प्राप्ति नहीं होती।"

राजा ने पूछा —"भगवन् ! ऐसे लोगों को भगवान् का भक्ति क्यों नहीं होती ?"

मुनि बोले—"राजन् ! करें क्या, वे लोग वेद वाक्यों का मुख्य अभिप्राय न समझकर केवल अर्थवाद क चक्कर मे फँस जाते हैं। प्राणियों का कर्मों म स्वाभाविक प्रवृत्ति होता है, फिर उन्हें अर्थवाद का सहारा मिल जाता है, इससे उनका कर्मों मे ही आग्रह हो जाता है। कर्म के रहस्य का तो वे भला भाँति जानते नहीं किन्तु लगाते हैं अपने को पडित। उनसे कोई हित की बात कहो तो उद्दडता करते हैं, लडने को उद्यत हो जाते हैं। वे पठित मूर्ख फलश्रुति के पाछे मदोन्मत्त हुए वितडावाद करने में प्रवृत्त हो जाते हैं। लोगों को फँसाने के लिये सुना सुनायी असबद्ध लच्छेदार सुनने मे वडी मधुर लगने वाली बातें बनाते हैं। वे उन बातों को इस ढङ्ग से नमक मिर्च लगाकर कहते हैं कि सुनने वाले यही समझते हैं कि वेद का तात्पर्य सकाम कर्मों के ही करने में है।"

राजा ने पूछा—"तो महाराज ! क्या कर्म करने ही न चाहिये ?"

मुनि बोले—"करने क्यों नहीं चाहिये ! कर्म करे, किन्तु उन कर्मों का कर्म फल त्याग की भावना स करे। त्याग को लक्ष्य मान कर उसी की प्राप्ति के लिये कर्म करे। ये कामी लोग कर्मों को काम प्राप्ति के निमित्त सकाम भाव से करते हैं। इनके सब काम सकल्प पूर्वक सकाम होते हैं। फल की इच्छा रखकर कर्म करने वाले कृपण होते हैं। कर्म करना रजोगुण का काम है। जो सकाम कर्मों के लिये अत्यन्त आग्रह करते हैं, वे रजोगुणी होते हैं। ये अपने अपने सकल्प को सिद्ध करने के लिये बडे बडे क्रूर कर्म करते हैं। ये लोग अत्यन्त कामी होते हैं, इनसे हित की बात कहो,

तो लडने लगते हैं, शास्त्रार्थ में नहीं जीतते तो शस्त्र बल का प्रयोग करने लगते हैं। ये सर्पों के समान लाल लाल आँखे करके भगवद्भक्त को देखते हैं। वेष ऐसा बना लेंगे कि लोग समझे ये बडे आचारी हैं। इनकी नस नस मे अभिमान भरा रहता है। हिंसादि पाप कर्मो मे इनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। देवी देवताओं के नाम पर ये भैसा, बकरा तथा अन्यान्य जीवों का निर्दयता के साथ वध कर देते हैं। पशुओं को मुक्का से मार देते हैं। यन्त्र से उनके गलों को घोट देते हैं। जहाँ भगवद् भक्तों को देखते हैं, वहीं व्यग करते हुए कहने लगते हैं "लम्बे तिलक माधुरी बानी। पूरे ठग की यही निशानी।" साराश यह है कि भक्तों को वे बगुला भक्त, मिट्टी के सिङ्ग वाले, खडिया पलटन आदि नामो से पुकारते हैं।

राजाने कहा—"ब्रह्मन्! गृहस्थ धर्म तो प्रधान धर्म है। गृहस्थ में ही रहकर तो परमार्थ साधन हो सकता है?"

महामुनि चमस बोले—"राजन्! हो क्यों नहीं सकता। मैं विशुद्ध गृहस्थ धर्म की निन्दा तो कर ही नहीं रहा। मैं तो सकाम कर्मों की निन्दा कर रहा हूँ। त्याग को आगे रखकर सन्यास धर्म को लक्ष्य बनाकर कर्तव्य बुद्धि से जो कर्म करते हैं, वे मोक्ष के अधिकारी होंगे ही। किन्तु ये कर्मासक्त लम्पट पुरुष तो शरीर सुख को ही सब कुछ समझते हैं। ये स्त्रीलम्पट कामी और विषय लोलुप होते हैं। गृह मे अत्यत आसक्त रहते हैं, कर्म भी करते हैं, तो इसी भावना से कि, ये विषय भोग दिव्य और प्रचुर होकर विशेष मात्रा मे हमें स्वर्ग में भी प्राप्त हो। वे परस्पर मे चर्चा भी करेंगे, तो इन्हीं ससारी विषय भोगों की। हमें वहाँ इतना मिला, इतने की हमें आवश्यकता है, यह न प्राप्त हुआ तो हमारी प्रतिष्ठा घट जायगी इस प्रकार की ससारी भोगों के ही सम्बन्ध में वार्तालाप करते हुए वे कालयापन करते हैं।

राजा ने कहा—"भगवन् ! ये लोग यज्ञ यागादि भी तो करते हैं। यज्ञयाग तो शुभकर्म है।"

मुनिवर चमस बोले—"राजन ! वे यज्ञ को अपनी वासना पूर्तिका साधनमात्र बनाकर लोगों को ठगने के लिये दम्भमात्र करते हैं यज्ञ करते हैं लोगों को दिखाने को, अपना यश ऐश्वर्य प्रदर्शित करने को। उसमे अनेक कारण दिखाकर अन्न का दान नहीं करते। विधि निषेध का ओर ध्यान नहीं देते। कुछ की कुछ क्रिया करा देते हैं, आपस म ही बेठ जाते हैं, अन्य किसी को दक्षिणा नहा देते। यज्ञीय हिंसा को हिंसा नहीं कहा जाता। ऐसे शास्त्र के वचना के कुछ के कुछ अर्थ लगाकर वे उदरपूर्ति के लिये जिह्वा को तृप्त करने के निमित्त-पशु के मास से अपने मास को बढाने के लिये अनेका पशुओं को मार डालते हैं, उनके मास को भक्षण करते हैं। ऐसी माठी-मीठी बातें बनाकर धन एकत्रित करते हैं, अपना वेभव बढा लेते हैं, कुलीन होने का अभिमान तो उन्हें पहिले से ही था। इधर-उधर से कुछ विद्या पढ ली, आपस में दान दिया, तेल फुलेल लगाकर सुन्दर रूप बना लिया। मास और माल खा खाकर बल भी बढा लिया, लोगो को दिखाने को कर्म भी करते हैं इन सभी कारणों से उनका अभिमान पराकाष्ठा को पहुँच जाता है, उनकी बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। लोक परलोक का विचार वे करते ही नहीं, अपना स्वार्थ साधन ही उनका प्रधान लक्ष्य हो जाता है, ऐसे अभिमानी अपने बडप्पन के मिथ्याभिमान मे भरकर बडे बडे भगवद्भक्त महात्माओं का भरी सभा में तिरस्कार करते हैं भक्तों का अपमान करना भगवान् का ही अपमान करना है। वे लोग भगवान् को भी नहीं मानते। वे ता देह को हा सब कुछ समझते हैं। यहाँ रहो सुख से खाओ पीओ, मरकर स्वर्गीय सुख भोगो, यही उनका मूलमन्त्र है।

उनसे कोई भगवान् की भगवद्भक्ति की बात कहो, तो वे

सुनेंगे ही नहीं। समस्त देहधारियों में जो सर्वान्तरयामी हरि, आकाश के समान व्याप्त हैं जो सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, शाश्वत, सत्य, सनातन तथा सर्वभूत सुहृद् हैं, जिनका वर्णन चारों वेद करते हैं, उनके गुणानुवाद न गाकर काम्यकर्मों की ही प्रशंसा करते हैं। सकाम कर्मों के ही अनुष्ठान में नित्य निरत रहते हैं।"

राजा ने कहा – "भगवन्! हम देखते हैं, वेदों में सर्वत्र सकाम कर्मों का ही वर्णन है। पुत्रेष्टि यज्ञ क्या है? पुत्र प्राप्ति के लिये यज्ञ। वेदों में अनेकों ऐसे वाक्य हैं, जिसे श्रेष्ठ पुत्र की इच्छा हो वह शहद में अमुक-अमुक वस्तु मिलाकर खाय। स्वर्ग की कामना हो तो अश्वमेध यज्ञ करे। सोमपान करके हम अमृत्व को प्राप्त हो जायँगे। जो चातुर्मास यज्ञ करते हैं, वे ऐसे स्वर्गादि पुण्य लोकों में जाते हैं, जहाँ न शीत का क्लेश है न उष्णता की व्याकुलता है। जहाँ न ग्लानि है न दूसरी ही असुविधायें। इन वचनों से तो यही प्रतीत होता है कि सब कर्म सकाम ही होते हैं। आप मांस मदिरा, मैथुनादि का निषेध करते हैं। किन्तु वेद में इन सब की स्पष्ट आज्ञा है। ऋतुकाल में भार्या के समीप जाना ही चाहिये, यज्ञ से अवशिष्ट मांस को खाना चाहिये, सौत्रामणि यज्ञ में सुरा का पान करना चाहिये। जब हमें इन कामों की वेद आज्ञा देते हैं, तो बलपूर्वक इतना खंडन आप क्यों कर रहे हैं।"

यह सुनकर चमस मुनि हँसे और बोले—"राजन्! इन वचनों का तात्पर्य और ही है, मूर्ख लोग इनका अन्य अर्थ लगाते हैं, मैं इनका भाव आपको समझाता हूँ कि इनका यथार्थ अभिप्राय क्या है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जिस प्रकार चमस मुनि ने इन वेद वचनों का अभिप्राय बताया है उसका वर्णन मैं आगे करूँगा।"

छप्पय

कछु पाखंडी अज्ञ अंटकी संट सुनावें।
फलश्रुति वाणी मधुर कहें बहु बात बनावें॥
कामी, क्रोधी, क्रूर, काम्य कछु करम करावें।
भक्ति भक्त भगवान् सबनि कूँ ढोंग बतावें॥
धन वैभव, कुल, रूप, बल, विद्या के अभिमान में।
भरे रहें मन देहि नहिँ, भक्तवछल भगवान में॥

वेद निवृत्ति परक है

[१२१३]

लोके व्यवायामिषमद्यसेवा
नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना ।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ-
सुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा ॥❀
(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ११ श्लो०)

छप्पय

मैथुन मदिरा मास वेद विधि मूर्ख बतावें।
वेद निवृति हित कहे ताहि विधि कहि समुझावें॥
इच्छा नियमित करन ब्याह मख विविध बताये।
सुत हित कह्यो विवाह यज्ञ आलभन जताये॥
सौत्रामणि मखमहँ सुरा, सूँघि नियम पूरो करै।
जो विधान इन कूँ कहै, सो नर नरकनिमहँ परै॥

❀ श्री शुकदेवजी कहते हैं—"राजन् ! महामुनि चमस राजा निमि को उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"हे नरेन्द्र ! संसार मे लोगों की मैथुन मे मद्य मास सेवन मे, स्वभाव से ही सदा प्रवृत्ति है, शास्त्र मे इनके लिये विधान नहीं है। किन्तु इनसे निवृत्त करने के लिये क्रमशः विवाह, यज्ञ, तथा सौत्रामणि आदि मे ग्रहण करने की कुछ छूट है। यहाँ इतने ही स्थानो मे छूट देने से तात्पर्य इनकी निवृत्ति मे ही है, न कि इनके ग्रहण में।"

शास्त्रों का अर्थ केवल वाक्य पढ लेने मात्र से ही नहीं लगता, सब पूर्वापर का विचार करके अर्थ लगाया जाता है। जो स्वार्थी हैं, वे शास्त्रों के वचनों का अर्थ तोड फोडकर अपने अनुकूल करते हैं। शास्त्र के शब्द तो कामधेनु के समान हैं, उनसे जो जैसा चाहेगा वैसा ही खींच तानकर अर्थ प्राप्त करेगा। एक व्यक्ति थे, उन्हे चाय (चाह) पीने का बड़ा व्यसन था। चाह के बिना वे रह नहीं सकते थे। किसी ने कहा-"चाय तो अत्यत हानिकारक है, इसका सेवन आप क्यों करते हैं ?" उसने कहा—"अरे भाई, चाह पीने की तो भगवान् की आज्ञा है। श्रीमद्‌भागवत् गीता में तो चाह की बड़ा प्रशसा हे, भगवान् ने उसकी भूरि-भूरि प्रशसा की है।"

उस व्यक्ति ने कहा—"अरे, क्यों असत्य भाषण करते हो, श्रीमद्‌भागवत् गीता क्या हमने पढ़ी नहीं है ? गीताजी मे चाह की प्रशसा तो दूर रही उसका नाम तक नहीं।"

चाह के व्यसनी सज्जन ने कहा—"आपने न सुना हो, में सुनाये देता हूँ यह गीता के १५वें अध्याय का श्लोक है—

सर्वस्य चाहं हृदि संन्निविष्टो मत्तस्मृतिज्ञानमपोहन च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेतान्तकृतवेदविदेव चाहम् ॥

यहाँ 'च' और अहम्' दो पद हैं, इनका चाह अर्थ करना अन्याय है, किन्तु व्यसनी अपने मन के अनुसार ही अर्थ लगाता है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! जब राजा निमि ने शका की, कि व्यवाय, मास और मद्य की तो वेदों में आज्ञा है। तब महामुनि चमस बोले—"राजन् वेद मे तीन प्रकार के वचन हैं। विधि-वचन, निपेधवचन और सामान्यवचन। जिन कर्मों में पुरुषों की रुचि नहीं है और वे परमार्थ के लिय आवश्यक है, उनका वेद विधान करता है कि अमुक काम को करना ही चाहिये। जसे

सन्ध्या करने में स्वाभाविक रुचि नहीं, किन्तु वेद की आज्ञा है "नित्य प्रति द्विजातियों को सन्ध्या करनी चाहिये।" इच्छा न रहने पर भी वेद में श्रद्धा रखने वाले लोगों को सन्ध्या करनी ही पड़ती है। जिन कार्यों की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है, वेद उनका निषेध करता है जैसे परस्त्री गमन न करे। जिनका मन विचलित भी हो वे-वेद की आज्ञा का उल्लङ्घन हो जायगा-इस भय से पाप कर्मों में प्रवृत्त नहीं होते। सामान्य वचन जैसे कर्मकाण्ड के हैं, अमुक यज्ञ में इतनी आहुति दे, श्राद्ध मे पिता के निमित्त इतने ब्राह्मण भोजन करावे। ये सामान्य वचन हैं। अच्छे कर्मों में प्रवृत्ति कराने को बहुत से रोचक वचन कहे जाते हैं, वे फलश्रुति कहलाते हैं, जैसे आँवला खाने से ही मोक्ष हो जाती है, अमुक ने भूल से आँवला खा लिया था, वह तुरन्त वैकुण्ठ को चला गया। ये रोचक वचन हैं। यहाँ तात्पर्य है इतना ही कि आँवला भक्षण पुण्य कार्य है, लाभप्रद है। बुरे कर्मों से हटाने के लिये भयानक शब्दों का प्रयोग किया जाता है। जैसे पीने से बचे हुए जल को जो पीता है, वह कुत्ते के मूत्र को पीता है, उसकी शुद्धि चांद्रायण से होती है। यहाँ तात्पर्य इतना ही है पीने से बचे हुए जल को फिर नहीं पीना चाहिये। यथार्थ वचन सामान्य रूप से कहे जाते हैं जैसे नित्य सन्ध्या करनी चाहिये, इत्यादि-इत्यादि।

अब राजन्! आप ही सोचें—वेद उन्हीं कामों का विधान करेगा, जिनकी ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति है। स्त्रीप्रसङ्ग, मांस, मद्य भक्षण इनमे तो लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सन्ध्या के प्रचार के लिये कितना प्रयत्न करते हैं, कितनी समितियाँ बनाते हैं, सत्य भाषण, ब्रह्मचर्यव्रत तथा अन्य तपस्या वैराग्य आदि के लिये लोग गला फाड़-फाड़कर चिल्लाते हैं। कोई सुनता ही नहीं, किन्तु व्यवाय, मद्य-मांस के प्रचार के लिये कोई समिति नहीं, कोई उपदेशक नहीं, कोई प्रचारक नहीं फिर भी इनका गाँव-गाँव में

घर घर में जन-जन मे प्रचार है। जो प्राप्य वस्तुएँ हैं उनके लिये वेद आज्ञा क्यो देने लगा। अप्राप्य वस्तु के लिये वलत्कार होने पर विधान बनाया जाता है। इसलिये जहाँ स्त्रीप्रसङ्ग, मास, मदिरा की आज्ञा दी भी हो, वहाँ उसका तात्पर्य उनसे चित्त की वृत्ति हटाने में ही समझना चाहिये। इन स्वाभाविक प्रवृत्तियों को नियमन करने मे ही उनका अभिप्राय समझना चाहिये। इस विषय म एक दृष्टान्त है।

एक बड़े भागवद्भक्त महात्मा थे, वे उस जाति के थे जिस जाति मे मदिरा का अत्यधिक प्रचलन है। उन्हीं की जाति का एक व्यक्ति आया और विनीत भाव से बोला—"महाराज! सुरापान का मुझे व्यसन लग गया है, अनेक प्रयत्न करने पर भी वह छूटता नहीं। क्या करूँ।"

महात्मा ने कहा—"अच्छा कोई बात नहीं, हम एक नियम बताते हैं, उसी नियम के अनुसार पिया करो।"

उसने कहा—"हाँ महाराज! बताइये।"

महात्मा बोले—"देखो, बाहर कहीं मत पिया करो, घर में भी पीओ, तो भगवान् को भोग लगाकर चोका लगाकर दो बार पिया करो।"

उसने कहा—"महाराज! भगवान् को सुराका भोग कैसे लगेगा?"

महात्मा ने कहा—"कोई हानि नहीं, पुरुष जो अन्न खाता है, उसके देवता भी उसी अन्न को ग्रहण करते हैं।"

यह सुनकर वह महात्मा के सम्मुख प्रतिज्ञाबद्ध हो गया। बाहर जब जाय तभी उसे पीने को हुडक लगे, किन्तु प्रतिज्ञाबद्ध था, घर आते-आते थक जाय, फिर स्नान करे, पूजा करे भोग लगावे तब पीवे। कुछ दिनों में उसे यह झंझट लगा, बडी ग्लानि हुई उसका सुरापान का व्यसन सदा के लिये छूट ही गया। अब

आप सोचें—"महात्मा जी ने उससे सुरपान करने के लिये कहा ता अवश्य, किन्तु उनका नियम बाँधने मे तात्पर्य, उसे उसके व्यसन स हटाने म था। उनका दूसरा शिष्य कहे कि गुरुजी न तो हमार सामने उस भगवान् का भोग लगाकर सुरपान की आज्ञा दी थी, इसलिय हमारे यहाँ भा नित्य भोग म सुरा रखा जाय और सबको बाँटी जाय, तो गुरु क ऐसे वचनो का ऐसा अर्थ करना गुरु के साथ अन्याय है। इसी प्रकार वेद का तात्पर्य तो है स्त्री प्रसङ्गादि से हटाने मे, किन्तु जहाँ आज्ञा है ऋतुकाल म भार्या में गमन करना चाहिय। वहाँ इन स्वाभाविक प्रवृत्तिया का नियम बनाया है। वेद विधि से विवाह करके अपनी भार्या बनानी चाहिये। अपना ही भार्या मे गमन करना चाहिये, ऋतुकाल मे ही गमन करना चाहिय अन्य काल मे नहीं। सन्तान की कामना से ही गमन करना चाहिये विषय सुख के लिये नहीं। जिनकी इस ओर की प्रवृत्ति नहीं है उन्हे नैष्ठिक व्रत लेकर रहना चाहिये। इसी प्रकार जिनकी मास भक्षण की प्रवृत्ति है उन्हे यज्ञ करके यज्ञ म अविशिष्ट मास का भक्षण करना चाहिये। मिथ्या हिसा न करना चाहिये। सुरापान केवल सौत्रामणि नामक यज्ञ में ही किया जा सकता है। केवल सुरापान के लिये कौन सौत्रामणि यज्ञ करे, यहाँ इतना प्रतिबन्ध केवल इन सबसे चित्त को हटाने के लिये ही है।

इसी प्रकार जहाँ धन उपार्जन करने की आज्ञा है, वहाँ यह नहीं है कि धन पैदा करके एकत्रित करते जाओ या उनसे भाँति-भाँति के शरार को सुख देने वाला सामग्रियो को बढाते जाओ। धन का एकमात्र फल धर्म ही है। जिस धर्म का पालन करने से आत्मसाक्षात्कार हो, मोक्ष हो। धर्म से ज्ञान विज्ञान की प्राप्ति होती है और उसी से परम शाति की प्राप्ति होती है, किन्तु अज्ञ लोग इस रहस्य को समझते नहीं। वे धनोपार्जन को

मुख्य कर्तव्य समझते हैं। धन पैदा करेंगे, स्वयं सजेंगे अपनी घरवाली को सजावेंगे, जोड़-जोड़ कर रख जायँगे, उससे धर्म न करेंगे, उसका सदुपयोग न करेंगे, अन्त में नरक मे जॉयगे। उसका उपभोग अन्य लोग करेंगे। आज रथ नहीं, घोड़ा नहीं, गद्दा नहीं, पलंग नहीं, इन्हीं को जुटाते रहते हैं, सिर पर खड़ी मृत्यु को नहीं देखते। वेद की आज्ञा के विपरीत अर्थ करते हैं।

राजन् ने कहा—"भगवन्! क्षमा करें। आपकी बातों से ही मुझे आपके वचनों में शंङ्का होती है। वेद का तात्पर्य निवृत्ति में है या प्रवृत्ति में है इस बात को तो हम अभी छोड़ देते हैं। उसका तात्पर्य किसमे है यह तो संदेहास्पद बात है, किन्तु कैसे भी सही स्त्रीप्रसंग, मांस भक्षण और सुरपान की आज्ञा तो है ही। चाहे वह विवाह, यज्ञ और सौत्रामणि के समय पर ही क्यों न हो। हमारा तो कहना है कि ये कार्य विहित हैं।"

मुनि ने शीघ्रता से कहा—"नहीं, राजन! वेद की आज्ञा भी इसके लिये नहीं। जहाँ विवाह की आज्ञा है, वहाँ विषय सुख के लिये नहीं केवल संतानोंपत्ति के लिये ही है। जहाँ यज्ञ में पशु बलि का विधान है, वहाँ साक्षात् उसका वध करने में अभिप्राय नहीं है। वहाँ शब्द है "पशु आलभन"। आलभन कहते हैं छूने को यज्ञ में पशु को भली-भाँति लाकर उपस्थित करे उसे छूकर छोड़ दे, मारे नहीं सौत्रामणि यज्ञ मे जहाँ सुरपान की व्यवस्था है वहाँ सुरा को साक्षत् पीवे नहीं। सूँघ लेना भी आधा भोजन बताया है। 'घ्राणं अर्ध भोजनम्" दो बार सूँघ कर रख दे। वेद की विधि पूरी हो गयी। फिर राजन्! ये सब बातें त्रेता द्वापर आदि युगों की है कलियुग में तो ऐसे यज्ञों का विधान ही नहीं। तथा आलभन घ्राण आदि का प्रश्न उठता ही नहीं। किन्तु स्वार्थी मूर्ख लोग इस विशुद्ध धर्म को नहीं समझते। वे लोग धूर्त होते हैं, उनकी जिह्वा को मांस का व्यसन पड़ गया है, वे देवी-देव-

ताओं के नाम पर पशुओं को काट-काट कर उन्हीं के मांस को बड़े स्वाद से खाते हैं। ऐसे लोग भी नरक जायँगे, जो देवी-देवताओं को न मानकर केवल पेट पालने के लिये, स्वाद के लिये, अपने ही लिये मांस पकाकर खाते हैं उनके नरक जाने मे कोई सदेह ही नहीं। जिसके मांस को खाते हैं,वह मरकर मास खाने वाला होता है और फिर इस खाने वाले के मांस को खाता हे। जो जो जिसके मास को खायेगा उसे जन्मान्तर में अपना भी मांस उसे खिलाना पड़ेगा।"

राजा ने कहा—"तब तो भगवन्! मांस खाने वाले की कभी मुक्ति हो ही नहीं सकती।"

मुनि ने कहा—"यह निश्चय ही है, यह शरीर तो नाशवान् हे। नाना पाप करके जो धन कमाया जाता है, वह भी यहीं रह जाता है। इस नाशवान् शरीर के लिये दूसरों की हिसा करना, दूसरो को दुःख देना, अन्य शरीरो में अवस्थित अपने ही आत्मा श्रीहरि से द्वेष करना ये सब अच्छी बातें थोड़े ही हैं। ऐसे करने वाले लोगों को अवश्य ही अधोगति होती है।"

राजा ने कहा—"भगवन्! बहुत से लोगों को हम देखते हैं वे पडित हैं, सन्ध्यावन्दन करते हैं, वेद की विधि से कर्मों को करते रहते हैं। उनकी क्या गति होगी?"

महामुनि चमस बोले—"राजन्! देखिये, बिना ज्ञान के मुक्ति नहीं, बिना त्याग के शान्ति नहीं। जब तक कैवल्य पद की प्राप्ति नहीं होती, तब तक आप भले ही मूढता को पार कर चुके हों, परम शाति की प्राप्ति न होगी। धर्म, अर्थ और कामरूप जो त्रिवर्ग हे इनमें ससार का आवागमन नहीं छूटता। धर्म की पहुँच स्वर्ग तक है। धर्म करोगे स्वर्ग मे पहुँच जाओगे। पुण्य क्षीण होने पर गिरा दिये जाओगे। इस प्रकार गिरना चढ़ना सदा लगा ही रहेगा, एक क्षण के लिये भी शान्ति न मिलेगी। यह तो

अपने आप ही अपने पेरों मे कुल्हाड़ी मारना है। जान बूझकर अपना सर्वस्व नष्ट कर देना है। राजन्! आपका प्रश्न था, कि भक्ति हीन पुरुषों का कोन-सी गति होती है, इसका मैंने अत्यंत संक्षेप में उत्तर दिया। ये भक्तिहीन पुरुष अज्ञान को ही ज्ञान समझते हैं, ये लोग विषयों के लिये ही नाना मनोरथ करते रहते हैं। ये आत्मघाती कहलाते हैं, क्योंकि आत्म ज्ञान से वञ्चित रहते हैं। इसीलिये सदा अशांत बने रहते हैं। भक्तों की भाँति मृत्यु के सिर पर पेर रखकर ये त्रिलोकी के बाहर नहीं जा सकते। निकराल काल इनके समस्त मिथ्या मनोरथों को बीच मे ही नष्ट कर देता है, ये अकृतकार्य होकर, नाना क्लेश उठाते हैं भगवत् भक्तों की ये निन्दा करते हैं, कथा कीर्तन का विरोध करते रहते हैं। परमार्थ से इन्हें द्वेष है, केवल घर बनाने में, पत्नी को सजाने मे, पुत्र को पढाने में, मित्र को खिलाने में, धन को एकत्रित करने में ही लगे रहते हैं। सत्य से, झूठ से, दम्भ से, छल से जेसे भी पैसा पैदा हो वेसा करेंगे। राजद्वार में मिथ्या साक्षी दे आवेंगे, भले आदमियों पर कलंक लगा देंगे। सारांश ये धन और कुटुम्ब के लिये सब कुछ कर देंगे। बडे बड़े विधान बनावेंगे, आगामी वर्ष यह करेंगे, बडा घर बनावेंगे, लडकी लडके का विवाह करेंगे, वाहन लेंगे, यह करेंगे वह करेंगे इतने में ही काल आ जायगा। मनोरथ मन मे ही रह जायँगे, धन जहाँ जमा किया है वहीं रह जायगा। स्त्री, पुत्र, मित्र कुटुम्बी सब हाय हाय करते रह जायँगे। बच्चूजी कुछ काल हुच हुच करके विवश होकर यमदूतों के पाशों से बँधकर नरक का मार्ग पकडेंगे। यही भक्तिहीन पुरुषों की गति है। भगवान् की पूजा न करने वालों का ऐसा ही अंत है। अब बताइये आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

राजा ने कहा—"ब्रह्मन्! यह सब तो मैंने सुना। भगवत् विमुखों की गति सुनकर तो मुझे बडा वेराग्य हुआ। अब कृपा करके

यह बताइये भगवान् की पूजा किन- किन नामों से और कैसे- की जाय। सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलि ये चार युग हैं। भगवान् का किस युग में कैसा रूप रहता है, कैसा वर्ण रहता है। सब युगों में भक्तगण एक ही रूप का ध्यान करते है, या पृथक्-युग में पृथक्-पृथक् रूप का। यदि पृथक् पृथक् रूप का ध्यान करते हैं तो किस युग में किस रूप का ध्यान किया जाय। इस विषय को और मुझे बता दें।"

यह सुनकर महामुनि चमस बोले—"राजन्! तुम्हारे इस प्रश्न का उत्तर मेरे ये छोटे भाई करभाजन देंगे। ये बड़े त्यागी हैं, साथ में एक पात्र भी नहीं रखते। कर ही इनका एकमात्र पात्र है।"

सूतजी शौनकादि ऋषियों से कह रहे हैं– "मुनियो! यह सुनकर महाराज निमि नव योगेश्वर में जो सबसे छोटे योगेश्वर श्री करभाजन हैं इनकी ओर उत्सुकता भरी दृष्टि से देखने लगे। अब महामुनि करभाजन जिस प्रकार राजा के प्रश्न के उत्तर देंगे उसका वर्णन मैं आगे करूगा।"

छप्पय

धरम अरथ अरु काम नरक भू नाक घुमावैं।
पावें बिनु पद परम शान्ति नर कबहूँ न पावें॥
नित प्रति नव नव सुघर मनोरथ महल बनावें
तजि घर, सुत, धन सुहृद मृत्यु के मुखमहँ जावें॥
होवै दुरगति भक्ति बिनु, उभय लोकमहँ नरनि की।
भक्ति भवनमहँ प्रविसि कें, होइ सुगति इन सबनि की॥

—::—

किस युग में किस विधि से पूजा की जाय

[१२१४]

कृत त्रेता द्वापर च कलिरित्येषु केशवः।
नानवर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ५ म० २० श्लोक)

छप्पय

निमि पूछें-'युग धरम सविधि मुनिवर समुझावें।
युग युगमहँ हरि रूप, नाम अरु वरन बतावें॥
करभाजमुनि कहें-चारि युग चारि रूप धरि।
सतयुगमहँ वटु बनें चतुरभुज शुक्ल वरनि हरि॥
तपतें तब तिनकूँ भजें, प्रेम करें तप धाम तें।
करें कीरतन हस मनु, ईश्वर आदि नाम तें॥

सब समय मे एक ही राग नहीं गाया जाता। भैंरोराग तथा उसकी भैरवी आदि रागिनी सूर्योदय से प्रथम गाये जाते हैं, इसी प्रकार प्रहर दिन चढ़े पर हिंडोल, दोपहर में दीपक राग चौथे प्रहर मे श्रीराग, मेघ राग को मेघ के समय मे गाते हैं,

* महामुनि करभाजन, राजा निमि स कह रहे हैं—"राजन्! सत्ययुग, त्रेतायुग, द्वापर और कलियुग ये चार युग हैं। इन चारो युगा म भगवान् के भिन्न भिन्न रूप, भिन्न-भिन्न वर्ण और भिन्न भिन्न प्रधान नाम होते हैं और उनकी पूजा भी युगो के अनुसार भिन्न भिन्न विधियों से हुआ करती है।"

फागुन में सब राग सभी समय गाये जाते हैं। साराश यह है कि सब रागो का समय बँधा है, समय का ही राग अच्छा होता है। सब समय में एक ही वस्त्र नहीं पहने जाते। विवाह, उत्सव के समय नये वस्त्र पहिने जाते हैं और नित्यप्रति साधारण। जाड़े में ऊनी मोटे गरम वस्त्र पहिने जाते हैं। गरमियों में सूक्ष्म शातल और जालादार। वर्षा म ऐसे पहिने जाते हे जो सरदी, गरमी और जल से बचा सके। भोजन भी सब समय में एक सा नहीं किया जाता। गरमियों म शीतल, मीठा, मृदुल, पतला और कम नमकीन भोजन होता है। जाडों म उष्ण, गरिष्ट, पौष्टिक खट्टा चरपरा खाया जाता है। वर्षा मे सूखा, खट्टा, शीतोष्ण खाते हैं। जल भी सब समय एक सा नहीं पिया जाता, गरमियों म कोरे घडे का बरफ पडा सुशीतल जल सुखप्रद होता है, अथवा जाडों म कूएँ का तुरन्त निकाला उष्ण जल अच्छा होता है, अथवा दूध चीनी मिलाकर उसम तुलसी, अदरक, काली मिरच गरम गरम पीना सुखप्रद और हितकर होता है। मनुष्य को चित्त वृत्ति भी सदा एक सी नहीं रहती। कभी सत्वगुण बढ जाता है, कभी रजोगुण और कभी तमोगुण। शरीर भी एक सा नहीं रहता, कभी छोटा होता है, कभी बडा होता है, कभी पतला होता है कभी मोटा, कभी स्वस्थ होता है, कभी अस्वस्थ। साराश यह है कि ससार परिवर्तनशील है जब जैसा समय होता है, तब उसके अनुरूप ही वैसे उपकरण एकत्रित किये जाते हैं।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने मुनियों से युगधर्म के विषय म प्रश्न किया तब उन नव योगेश्वरों मे जो सबसे छोटे करभाजन मुनि थे, वे बोले—"राजन् जैसे जैसे युग परिवर्तन हो जाते है, वेसे वैसे ही प्रभु पूजापद्धति मे भी परिवर्तन हो जाता है। अरूप भगवान् युगानुसार रूप रख लेते हैं, अनाम भगवान् के युगानुसार ही प्रधान नाम प्रसिद्ध हो जाते हैं। अवर्ण

भगवान् के युगों के अनुसार ही वर्ण बन जाते हैं। पहिले आप युगों के सम्बन्ध में समझ लें। जब जैसा युग होता है, तब वैसी ही लोगों की चित्त की वृत्तियाँ बन जाती हैं। जब सत्वगुण प्रधान समय होता है, उस युग का नाम है सत्युग। भगवान् तो एक हैं, उनके पाने का उपाय भी एक ही है–उनके नामों का कीर्तन करना। किन्तु समय समय पर उनके नाम, रूप, वर्ण और साधनों में कुछ दिखाने को परिवर्तन-सा हो जाता है। वह युग धर्म की महिमा दिखाने के लिए होता है। जगत् त्रिगुणात्मक है। इस त्रिगुणात्मक जगत् को चार युगों में विभक्त कर दिया गया है। सत्वप्रधान युगों को सत्युग, सत्व और रज प्रधान युग को त्रेतायुग, रजोगुण और तमोगुण मिश्रित युग को द्वापर और तम प्रधान युग को कलियुग कहते हैं। समय के अनुसार ही लोगों की प्रवृत्तियाँ होने लगती हैं। युगों का कोई आकार बनाता नहीं। जैसे वसन्त आते ही अपने आप वृक्षों में पतझड़ होकर फूल निकलने लगते हैं, जैसे समय आने पर ही स्त्रियाँ गर्भधारण के योग्य हो जाती हैं, जैसे समय आने पर ही दाँत दाढ़ी मूँछें निकल आती हैं, जैसे समय आने पर दिन हो जाता है, समय आने पर ही रात्रि, उसी प्रकार एक युग बीत जाने पर दूसरा युग अपने आप आ जाता है। जैसा युग आ जायगा, उसी के अनुरूप लोग कार्य करने लगेंगे। प्रभु की पूजा विधि भी बदल जायगी। युगावतार भगवान् के रूप का ध्यान भी बदल जायगा। उनका नामकरण भी बदल जायगा। और उनके कीर्तनों के नाम भी बदल जायँगे। कीर्तन की प्रधानता तो सब युगों में रहेगी क्योंकि बिना कीर्तन के केशव प्राप्ति असम्भव है। केवल उसके प्रकार में भेद हो जायेगा।

राजा ने पूछा—"महाराज! मुझे इस विषय को तनिक स्पष्ट करके समझावें। सत्ययुग में भगवान् की पूजा कैसे करते हैं।"

महामुनि करभाजन बोले—"राजन्! सत्युग में लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति सत्वगुण की ओर रहती है। सत्वगुण से ज्ञान की वृद्धि होती है। सत्ययुग के लोग स्वभाव से ही ज्ञानी होते थे। जो जितना ही ज्ञानी होगा,वह उतना हो न्यून से न्यून संग्रह करेगा। जो जितना ही अज्ञानी होगा, वह उतना ही अधिक से अधिक संग्रह करेगा। त्याग ही ज्ञान का लक्षण है। त्याग का फल है शांति, संग्रह का फल है अशांति। जिसके पास जितना ही अधिक द्रव्य होगा, वह उतना ही अधिक अशान्त होगा। सत्-युग में कोई घर नहीं बनाते थे इसलिये उन्हे वर्षा, गरमी जाड़े की बाधा भी नहीं होती थी। वे लोग अन्न का संग्रह भी नहीं करते थे। इसलिये उन्हें अन्न का अभाव भी नहीं होता था। जहाँ जाते थे वहाँ उन्हे भोजन मिल जाता था। जब वे संग्रह ही नहीं करते थे, तब अशात क्यों हों? जब अशांति का कारण संग्रह ही नहीं तो अशाति होगी कैसे? इसलिये उस समय के सब लोग शांत होते थे।

जब हम आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रह करते हैं, तब हम दूसरों के अधिकार को छीनते हैं। भगवान् तो जितने प्राणी बनाते हैं, उनके अनुरूप ही उपयोगी वस्तुओं को बनाते हैं। एक आदमी है, उसका आधसेर अन्न से पेट भर जाता है, यदि वह तीनपाव अन्न का सग्रह करता है, तो मानो उसने पाव भर अन्न की चोरी की। दूसरों का भाग उसने छीन लिया। जो जिसका भाग छीनता हे, वह या उसके सम्बन्धी भाग छीनने वाले से वैर करते हैं। इसलिये वैर-भाव सदा वस्तुओं के संग्रह में होगा। जो जितना ही अधिक धनी होगा उसके उतने ही अधिक शत्रु होंगे। धनिक को सभी चींथना चाहते हैं, निर्धन लोग धनी से मन ही मन द्वेष करते हैं। जिसने अधिक प्रतिष्ठा संग्रह करली है उससे मन-ही-मन कम प्रतिष्ठा वाले द्वेष रखते हैं।

इस प्रकार वैर का कारण है संग्रह। सत्ययुग में कोई संग्रह नहीं करते थे, इसलिये सबके सब निर्वैर होते थे। जो जितना ही अधिक संग्रही होगा, वह उतना ही अधिक हृदयहीन होगा। धन का संग्रह करने वाला कभी सहृद नहीं हो सकता। एक विष्णु भगवान् को छोड़कर संग्रही को सदा शका बनी रहती है, कोई मुझसे माँग न ले। जिसे सर्वदा शङ्का लगी है वह सहृदय केसे रह सकता है। सत्ययुग मे शङ्का का कोई स्थान ही नहीं था, इसलिये सबके सब सहृदय होते थे। जब मनमें वस्तुओं के प्रति मोह होता जाता है, तब कुछ लोगों से राग हो जाता है। कुछ से द्वेष और बहुतों से उदासीनता। जिनसे राग हो जाता है, उन्हे अच्छी-अच्छी वस्तुएँ अधिक देना चाहते हैं, उदासीनो को साधारण वस्तुएँ देते हैं और द्वेषियों को देना ही नहीं चाहते, इस प्रकार असम व्यवहार करने लगते हैं। सत्ययुग में सब एक से थे, इसलिये सबको सब लोग समान भाव से देखते थे। सब-के-सब समदर्शी थे। इतना सब होने पर भी मन और इद्रियों का स्वभाव है विषयों की ओर दौड़ना। इन्हें संसार की ओर से रोककर भगवान् की ओर लगाना, इसी का नाम है साधन। इसलिये शम, दम और तपस्या द्वारा सत्ययुग के लोग भी भगवान् की उपासना करते थे।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! सत्ययुग के लोग उपासना कैसे करते हैं। वे किस रूप का ध्यान करते हैं।"

मुनि बोले—"राजन्! सत्ययुग के लोग सूक्ष्मदर्शी होते हैं, वे बाह्य वस्तुओं को महत्व नहीं देते, वे मन, वाणी और शरीर द्वारा तपस्या ही करते हैं। भगवान् के तपस्वी रूप का ध्यान करते हुए कीर्तन करते हैं। भगवान् को तो जो जेसे भजता वे भी उसे वैसे ही भजते हैं। सतयुगी लोगों के कल्याणार्थ भगवान् भी तपोमय रूप रख लेते हैं शुक्लवर्ण सत्वगुण का

द्योतक है। सत्वप्रधान सत्युग में भगवान् का वर्ण शुक्ल होता है। वे चतुर्भुज रूप धारण कर लेते हैं, सिर पर जटाजूट धारण करके वल्कल वस्त्र पहिनते हैं, यज्ञोपवीत पहिनकर कंठ मे रुद्राक्ष की माला धारण करते हैं, कृष्ण मृगचर्म, दण्ड, कमण्डलु धारण करके साक्षात् तप रूप रख लेते हैं। ऐसे ही रूप का सत्युगी लोग निरन्तर ध्यान करते हुए हंस, सुपर्ण वैकुण्ठ, धर्म, योगेश्वर, मनु, ईश्वर, पुरुष, अव्यक्त, परमात्मा आदि नामों का सङ्कीर्तन करते हैं। उस युग का ध्यान पूर्वक कीर्तन ही प्रधान साधन है। भगवान् के ये सब नाम तप परक है।"

राजा ने पूछा—"भगवन् ! त्रेतायुग में भगवान् की कैसे उपासना करते हैं ?"

मुनि बोले—"त्रेतायुग मे सत्व के साथ रजोगुण ने भी प्रवेश किया। अब लोगों को अपरिग्रह में कठिनता अनुभव होने लगी। रजोगुण धर्म है लोभ। जो जितना ही रजोगुणी होगा, वह उतना ही लोभी होगा। लोभ होता है अविश्वास से। सम्भव है फल भोजन न मिले, इसलिये आज से ही संग्रह करके रख लो। सम्भव है वर्षाकाल मे वर्षा न हो, इसलिये अभी से कूल बना लो, रजोगुण मे चटक-मटक और दिखावट भी होती है। जैसे सत्वगुण शुक्ल होता है, वैसे ही रजोगुण रक्तवर्ण का होता है। त्रेतायुग में वडी-बड़ी राजधानियाँ बनने लगीं, बड़े-बड़े सामान एकत्रित किये जाने लगे, भगवान् ने भी वैसा ही रूप बना लिया। सत्ययुग मे जैसे ध्यान की प्रधानता थी, अब त्रेता मे भीतरी ध्यान में कठिनता होने से राजस प्रधान बडी-बड़ी सामग्रियों के यज्ञयाग होने लगे। लोगों की धर्म में अधिक रुचि होने लगी। कर्मकाण्ड की ओर मनुष्यों का अधिक झुकाव होने लगा। भगवान् ने भी यज्ञ पुरुष का रूप रख लिया। जैसे अग्नि रक्तवर्ण की होती है, वैसे ही भगवान् का वर्ण हो गया।

प्राजापत्य, गार्हपत्य और आहवनीय तीन अग्नियाँ हैं। वेदत्रयी द्वारा इन तीनों अग्नियों में हवन किया जाता है, इसी के प्रतीक स्वरूप भगवान् ने तीन मेखलायें धारण कर लीं। भगवान् के केश भी सुनहरे हो गये। वे हिरण्यकेश चतुर्भुज भगवान् हाथों मे स्रुक् और स्रुवा आदि यज्ञ पात्रों को धारण करके कर्मकाण्डी लोगों की इच्छा पूर्ति करने लगे। ब्रह्मवादी धर्मनिष्ठ आर्य पुरुष उन सर्वदेवमय भगवान् का विधि विधान सहित यज्ञों द्वारा पूजन करते और विष्णु, यज्ञपुरुष, पृश्निगर्भ, सर्वदेवमय, उरुक्रम, वृषाकपि, जयन्त और उरुगाय आदि नामों से कीर्तन करने लगे। त्रेतायुग के लोग यज्ञ करते हुए वेदमन्त्रों से भगवान् के नामों का कीर्तन करते थे। उस युग मे यज्ञों के साथ-साथ ही नाम कीर्तन होता था। नामकीर्तन के बिना यज्ञयागादि व्यर्थ हैं, किन्तु यदि यज्ञ में मन्त्र, तन्त्र, देश, काल अथवा द्रव्य में कोई त्रुटि भी रह जाय और भगवान् के नामों का कीर्तन कर दिया जाय तो वे सब त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं। वेद, यज्ञादि समस्त क्रियाओं की न्यूनता भगवान् के नामस्मरण से दूर हो जाती हैं। इसलिये यज्ञों में वैदिक तान्त्रिक मन्त्रों का कीर्तन होता था।"

राजा ने पूछा—"भगवन्! मैंने सत्य तथा त्रेता इन दो युगों के धर्म उनमें होने वाली भगवान् की पूजा के सम्बन्ध में सुना। अब मैं द्वापर युग में भगवान् के वर्ण और उनकी पूजा के सम्बन्ध मे और सुनना चाहता हूँ। द्वापर में लोग भगवान् के कैसे रूप का किस ढँग से पूजन करते हैं?"

इस पर करभाजन मुनि बोले—"राजन्! द्वापर में सत्वगुण तो अत्यन्त न्यून ही हो गया, रजोगुण के साथ तमोगुण भी आ गया। तमोगुण का वर्ण कृष्ण होता है। अतः भगवान् भी काले हो गये। त्रेतायुग में हवन की प्रधानता थी, किन्तु द्वापर में

पूजन की प्रधानता हो गयी। हवन के पूर्व भगवान् का बड़े विस्तार के साथ पूजन किया जाने लगा। द्वापर के पुरुष अत्यन्त लोभी हो गये, यहाँ तक राज्य, पाट, धन, वैभव के लिये सगा भाई सगे भाई का, पुत्र पिता का वध करने लगे। लोभ हटाने का साधन यह है कि धन को शुभकर्मों में व्यय करे, दान करे; इसीलिये द्वापर पूजाप्रधान युग हो गया। श्यामवर्ण पीताम्बर धारी भगवान् की पूजा करने लगे। उस युग में भगवान् पाञ्चजन्य शङ्ख, सुदर्शन चक्र, कौमोदकी गदा, खड्ग, धनुष, बाण, हल तथा मुसल आदि आयुधों को धारण करने लगे। कौस्तुभमणि, वैजन्ती माला आदि बाह्य चिन्हो से तथा श्रीवत्सादि शारीरिक चिन्हों से सुशोभित होने लगे। जैसे त्रेता में तो हाथ में स्रुक् स्रुवा आदि यज्ञपात्र रखते थे, किन्तु युद्ध प्रधान युग होने से द्वापर में विशेष अस्त्र ही रखने लगे। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इस प्रकार चतुर्व्यूह रूप से षडैश्वर्य-सम्पन्न भगवान् की जो छत्र-चमरादि राजचिन्हो से युक्त हैं, उनका वैदिक और तान्त्रिक विधि से अर्चन करने लगे। पूजन के अनन्तर महापुरुष नर-नारायण, महापुरुष विश्वेश्वर, वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न, अनिरुद्ध तथा सर्व भूतात्मा इन नामों का कीर्तन करने लगे। चतुर्थी लगाकर बारम्बार नमस्कार करने लगे। द्वापरयुग का मुख्य धर्म पूजन के सहित नामसङ्कीर्तन बताया है।

राजा ने कहा—"भगवन्! कलियुग के विषय में मैं विशेष रूप से सुनना चाहता हूँ। कलियुग मे भगवान् के कैसे रूप का ध्यान करें, कौन से सुगम साधन से ससार सागर को पार करें, कलिकाल युग का साधन कौन-सा है?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो महामुनि करभाजन ने जैसे कलियुग में भगवान् के रूप का उनकी प्राप्ति के लिये मुख्य साधन

का वर्णन, राजा निमि से किया है, उसे मैं आगे कहूँगा। आप समहित चित्त से श्रवण करें।

छप्पय

त्रेतमहँ मख रूप त्रयामय स्रुक् स्रव धारी।
रक्तवरन भुज चारि रूप धरि रहैं मुरारी ॥
पृश्नि गर्भ उरुगाय, वृषाकपि, विष्णु, उरुक्रम।
यज्ञ आदि ले नाम करैं कीर्तन नर अनुपम ॥
द्वापरमहँ कारे बने, पीताम्बर आयुध सहित।
तन्त्र वेदविधितैं तिनहिं, पूजैं नर चित समाहित ॥

कलिकाल का युग धर्म

[१२१५]

कृष्ण वर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम् ।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ३२ श्लोक)

छप्पय

नर नारायन वासुदेव सङ्कर्षन आदिक ।
नाम कीरतन करें पूजि प्रभु श्रेष्ठ उपासक ॥
कृष्णकान्तिमय कृष्ण वरन कलिकाल सपापद ।
करि सकीर्तन यज्ञ सहजमहँ पाहिं परमपद ॥
राम कृष्ण अवतार गुन, नामनि को कीर्तन करें ।
केवल कीर्तन ही करत, नर भवसागर तैं तरें ॥

युगधर्म को समझकर जो उपासना करते हैं, उन्हें शीघ्र सिद्धि प्राप्त होती है। जो युग धर्म के विपरीत आचरण करते हैं, उन्हें नाना क्लेश उठाने पड़ते हैं। भगवान् का नाम तो टेढ़े सीधे

---

*श्री शुकदेवजी कहते हैं "राजन् ! योगश्वर करभाजन कलियुग में भगवान् की उपासना की विधि बताते हुए राजा निमि से कह रहे हैं—हे नरेन्द्र ! बुद्धिमान् पुरुष कलिकाल मे कृष्णवर्ण वाले साङ्गोपाङ्ग आयुध और पापदों से युक्त कृष्णकान्तिमय कृष्ण भगवान् के सङ्कीर्तन प्रधान यज्ञों द्वारा पूजन करते हैं ।"

जैसे भी लिया जाय, तैसे ही हितकर है, किन्तु युगानुरूप लेने से उसमें सरलता होती है। जो केवल कीर्तन को साधारण समझकर ध्यान, मख तथा पूजन पर विशेष बल देते हैं उनकी सिद्धि में सदेह है। वैसे ये साधन तो है ही, इनसे असंख्यो का उद्धार हुआ ही है, किन्तु वह समय दूसरा था, उस युग में स्वाभाविक इन साधनों में अनुराग होता था। ये परम शुभ कर्म न तो अनुपयोगी ही हैं और न व्यर्थ, किन्तु उनके लिये पात्रता का अभाव है। जो इसके पात्र हों करें। सर्व साधारण के लिये तो संकीर्तन प्रधान यज्ञों का आचरण ही श्रेयस्कर है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब राजा निमि ने कलियुग के सम्बन्ध में योगेश्वर करभाजन जी से पूछा, तो वे कहने लगे—राजन्! कलिकाल बड़ा ही दारुण समय है, इसमें तमोगुण की ही प्रधानता होती है। तमोगुण का वर्ण होता है काला, इसलिये भगवान् भी कृष्ण वर्ण के हो जाते हैं। जैसे सभी वर्णों का समावेश कृष्ण वर्ण में हो जाता है वैसे ही समस्त अवतारों का समावेश इन कृष्ण वर्ण के रामावतार और कृष्णावतार में हो जाता है। इन कृष्णकान्तिमय कृष्ण वर्ण के अवतारों की अङ्ग उपाङ्गों आयुध तथा पार्षदों सहित संकीर्तनप्राय यज्ञों द्वारा पूजन करे मानव रूप रखकर त्रेता और द्वापरादि युगों में जो भगवान् ने मनोहारिणी लीलायें की हैं, उनको श्रवण करे और उन्हीं लीलाओं के अनुरूप नाम ले-लेकर भगवान् की भक्ति करे! भगवान् के अवतार चरित्रो का -उनके श्रुतमधुर नामों का श्रवण कीर्तन करे। उन्हीं के रूप का स्मरण करे। भगवान् के अर्चा विग्रह स्थापित करके उनका पाद सेवन, अर्चन और वन्दन करे, उनमें दास्य और सख्य भाव स्थापित करे तथा उन्हें ही आत्म निवेदन कर दे। सारांश यह है जैसे भी हो अवतारों के नाम-संकीर्तन में

मन को लगा दे। उनकी ललित लीलाओं को स्मरण करके चरणों में प्रणाम करे।"

राजा ने पूछा—महाराज! चरणों में कैसे वन्दना की जाय?"

मुनि बोले—"राजन्! भगवान् के अवतार तो अनेकों हैं, किन्तु कलियुग में राम और कृष्ण इन दोनों अवतारों की ही विशेष मान्यता रहती है। जिनके इष्ट स्वयं साक्षात् श्रीकृष्ण है, वे उनकी भक्तवत्सलता को स्मरण करके प्रार्थना करें 'हे शरणागत वत्सल! हे महापुरुष! आपके चरणारविन्द सदा ध्यान करने के योग्य हैं। माया कृत जो पराभव है, यह जो संसारी मोह है, उस मोह को ये चरणारविन्द हरने वाले हैं। इन चरणों में जो जिस इच्छा से आता है, उसकी वह इच्छा अवश्य पूरी हो जाती है। क्योंकि ये वांछितफल दाता हैं। परम तीर्थ स्वरूप होने से सर्वसाधारण की तो बात ही क्या, शिव और ब्रह्मादि देवों द्वारा भी वन्दित तथा पूजित है। संसार रूप गहन वन में भटकते हुए बटोहियों के लिये ये ही एकमात्र शरण हैं। सेवकों के दुःखों को सदा दूर करने वाले हैं। इस अगाध अपार संसार सागर से उस पार पहुँचाने के निमित्त सुदृढ़ सुन्दर सुखकर पोत हैं। ऐसे आपके पुनीत पाद-पद्मों मे पुनः पुनः प्रणाम है।'

जिनके इष्टदेव भगवान् श्री रामचन्द्रजी हों वे इस प्रकार प्रार्थना करें—'हे धर्मावतार! हे मर्यादापालक! हे महापुरुष! आपने भक्तों को सुख देने के लिये कैसी-कैसी करुणापूर्ण लीलायें की हैं। आपके चरणारविन्द कितने मृदुल तथा कोमल हैं। अवध में आप रहते थे, तो आपके चरणों को भगवती जनकनन्दिनी अपने कमल से भी कोमल करों से संकोच के सहित दबाती थीं, इतने पर भी आप सी कर जाते थे। फिर वे ही चरणारविन्द पिता दशरथ जी की आज्ञा से सुरगण वाछित

दुस्त्य राज्य वैभव को त्याग कर एक वन से दूसरे वन में कँकड़ीली पथिरीली भूमि में घूमते रहे। उनमें पादत्रान भी नहीं थे। उनमें जो कुश कंटक तथा कंकड़ आदि चुभे वे भक्तों के हृदय को अभी तक करक-करककर व्यथित बना रहे हैं। वन में तो आप अपनी प्रिया तथा अनुज के साथ शनैः-शनः चलते होंगे किन्तु जब पंचवटी में आपकी प्रिया ने माया के मृग बने मारीच को प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और आपने उनके अभीष्ट मृग को लाने का वचन दिया तो आप नगे ही चरणों से उस माया के मृग के पीछे दौड़े। ऐसे उन परम मृदुल पादपद्मों में हम पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। इस प्रकार राजन्! कलियुग में राम-कृष्ण इन अवतारों की चरण वन्दना करे। वास्तव में राम और कृष्ण दो नहीं एक है। जैसे दिन और रात्रि मिलकर एक दिन होता है, वैसे ही राम और कृष्ण मिलकर ही पूर्णावतार होता है। राम ही ने कृष्ण का रूप रख लिया है, इन दोनों में जो भेद-भाव करते हैं वे सच्चे भक्त नहीं। इसलिये इन्हीं के नामों का कीर्तन करे सम्मिलित या पृथक् पृथक्। जैसे—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे॥
श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव॥
रघुपति राघव राजा राम। पतित पावन सीता राम॥
श्रीराम जय राम जय जय राम।

इस प्रकार नाम संकीर्तन द्वारा भगवान् की पूजा करे। यही कलियुग का युगधर्म है। भिन्न-भिन्न युगों में भक्तवृन्द अपने-अपने युग के अनुरूप वर्ण, नाम और रूपादि से उन परात्पर प्रभु की उपासना करते हैं। वे सर्वप्रथम सच्चिदानन्द प्रभु समस्त पुरुषार्थों के एक मात्र अधीश्वर हैं, उनकी उपासना ही देहधारियों का मुख्य कर्तव्य है। इन चारों युगों में से कलियुग

ही सबसे श्रेष्ठ युग है। इसीलिये गुणज्ञ सारग्राही सज्जन पुरुष सबसे अधिक इसी युग की प्रशंसा करते हैं, इसे ही सबसे अधिक प्रिय मानते हैं।

चौंककर राजा ने पूछा—"अजी भगवन्! आप यह कैसी विपरीत बात कह रहे हैं। कलियुग तो पापप्रधान युग है, तमोगुण की प्रधानता होने से लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर होती है। आप इस अधम युग की इतनी प्रशंसा क्यों कर रहे हैं।"

यह सुनकर गम्भीर होकर महामुनि करभाजन बोले—राजन्! आपका कथन यथार्थ है, वास्तव में कलियुग समस्त दोषों की खान है। यह भी आपका कथन सत्य है कि तमोगुण की प्रधानता होने से लोगों की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ही ओर होती है, किन्तु इतना सब होने पर भी राजन्! इस कलियुग में एक इतना भारी गुण है कि इसके सब दोष ढक जाते हैं। अन्य लोगों की बात मैं नहीं कहता, जो साधक लोग हैं, उनके लिये इस युग में बड़ी सरलता है। देखिये, सत्ययुग में सहस्रों वर्ष ध्यान करते थे, तब भी किसी-किसी को कठिनता से सिद्धि प्राप्त होती थी। त्रेता में कितना श्रम करके कितना द्रव्य व्यय करके यज्ञ यागों का सम्भार जुटाया जाता था, मन्त्र में विधि में कुछ भी त्रुटि रह गयी, सब गुड़ गोबर बन गया। द्वापर में कितनी तान्त्रिक विधियों का जाल बिछाया जाता था। कितना महान् श्रम किया जाता था, तब कहीं जाकर सिद्धि होती थी। किन्तु इस कलियुग में केवल भगवान् के नाम संकीर्तन से ही सम्पूर्ण स्वार्थ की सिद्धि हो जाती है। अब आप ही बताइये अन्य युगों से प्रशंसनीय युग यह हुआ या नहीं। सत्ययुग त्रेता में तो यही बात विशेष होती है कि सब लोग धर्मात्मा होते हैं, सब लोग बड़ी आयु वाले होते हैं, सब सुन्दर

के होते हैं, किन्तु भगवान् को पाने में तो बड़ा श्रम करना पड़ता है। कलियुग में सब इनके विपरीत होने पर भी साधन

की तो सरलता है। राम राम रटो और भवसागर से पार हो जाओ।"

राजा ने कहा—"भगवन्! अन्य युगों में तो अनेक लाभ हैं, देवताओं के प्रत्यक्ष दर्शन होते थे। इन्द्रादि देव सशरीर यज्ञादिकों में भाग लेने आते थे। अन्य युगो में पेट पालन करने को इतना श्रम नहीं करना पड़ता था। वर्णाश्रमधर्म की व्यवस्था सुचारु रूप से चलती थी, इस कलियुग में तो अधर्म और पापाचार के अतिरिक्त मुझे कोई लाभ दिखायी देता नहीं।"

इस पर बल देकर करभाजन मुनि बोले—"राजन्! मैं अन्य लाभों को कोई महत्त्व नहीं देता। जन्म मरण के चक्र में पड़कर घूमते हुए प्राणियों का भगवन्नाम सकीर्तन से बढ़कर मैं और किसी भी लाभ को नहीं समझता। स्वादिष्ट भोजन मिल जाय इससे क्या लाभ? सुन्दर सुन्दर वस्त्र, उत्तम उत्तम वाहन, बहुत बड़ी आयु, निरोग शरीर ये सब वस्तुएँ मिल जायँ और जन्म मरण का चक्कर न छूटे तो इन वस्तुओं से क्या होता है। जिस नाम संकीर्तन से ससार बन्धन छूट जाता है इससे बढ़कर दूसरा कोई लाभ नहीं।

एक धनिक है, वह अपनी सुन्दर युवती पत्नी को सब प्रकार के सुख देता है। सुन्दर से सुन्दर शैया देता है, उत्तम से उत्तम आभूषण देता है, वस्त्र, भोजन, सेवक, वाहन सभी का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ प्रबन्ध करता है, किन्तु उसे अपनी शैया स्पर्श नहीं करने देता, तो उसके लिये ये सुख किस काम के? इसी प्रकार जिन ससारी सुखों से भगवान् की प्राप्ति न हो वे व्यर्थ हैं। नामसकीर्तन एक ऐसा सरल सुगम सर्वोपयोगी सुखद साधन है कि इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से परम शान्ति प्राप्त होती है। बीच बीच में काम क्रोध जन्य बहुत से विघ्न आते हैं, किन्तु उस समय भी नाम का सहारा न छोड़े, नामसकीर्तन को करता ही जाय, एकान्त में रो रोकर प्रभु से प्रार्थना करे कि 'प्रभो, मुझे इस विषयरूपी विष से बचाओ,

मुझे अपने चरणों मे लगाओ, जिह्वा से अपने सुमधुर नामों को लिवाओ। इस प्रकार एकमात्र भगवन्नाम के आश्रय से ही सब विघ्न मिट जायँगे, प्राणियों को प्रभु पादपद्मो की प्राप्ति हो जायगी। मैं तो कलियुग की इसी विशेषता पर मुग्ध हूँ कि इस युग म केवल भगवन्नाम कीर्तन से ही सब कुछ प्राप्त हो सकता है।"

राजा ने कहा—"हाँ भगवन्! सरल साधन की दृष्टि से तो कलियुग श्रेष्ठ ही है।"

महामुनि करभाजन बोले—"हाँ राजन्! साधन की ही दृष्टि से तो मैं कह रहा हूँ, वैसे तो यह कलियुग, बडा दुष्ट युग है, पाप का भाई ही है। किन्तु नामसंकीर्तन का सुलभता ने ही इसके महत्व को बढा दिया है, इसीलिये सत्ययुग त्रेतादि युगों में रहने वाले पुरुष भी इस कलियुग में जन्म लेने के लिये लालायित बने रहते हैं, क्योंकि भगवान् की भक्ति का प्रचार कलियुग में ही होता है। भक्तगण कलियुग में ही विशेष उत्पन्न होते हैं। अन्य युगों मे तो किसी मे सांख्ययोग की, किसी में कर्मकाण्ड की, किसी मे उपासना की प्रधानता होती है, किन्तु कलियुग मे तो केवल भक्ति की ही विजय है। कलियुग में जहाँ तहाँ बहुत से भक्त उत्पन्न होकर भक्तिमार्ग का प्रचार प्रसार करेंगे। स्थान-स्थान पर बहुत से भक्त अपनी संकीर्तन की सुमधुर ध्वनि से जगत् का उद्धार करेंगे।

राजा ने पूछा—"भगवन्! कलियुग में कहाँ कहाँ भक्त उत्पन्न होंगे?"

हँसकर महामुनि करभाजन बोले—"राजन्! जैसे नपुंसक स्त्री, पुरुष, वेश्याओं का जन्म सभी देशा में, सभी जातियों में हो सकता है उसी प्रकार भगवत् भक्तों का जन्म सभी प्रदेशों में सभी वर्णों में हो सकता है। कलियुग में भिन्न भिन्न देशों में भक्त अधिक होंगे।

राजा ने पूछा—"महाराज ! द्रविड़ देशों में क्या विशेषता है ? महर्षियों ब्रह्मर्षियों द्वारा सेवित यह गंगा यमुना के मध्य का देश भूमि में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। उत्तराखण्ड को सभी ने परमपवित्र प्रान्त माना है, सभी राजर्षि राज्य छोड़कर उत्तर दिशा की ही ओर गये हैं। भगवान् के जितने अवतार हुए हैं, सब यहीं हुए। दक्षिण के देश तो कोई पवित्र देश नहीं, उन देशों में तो अनार्यों की विशेषता है।"

हँसकर मुनि बोले—"राजन् ! जो स्वयं पवित्र देश हैं उन्हें क्या पवित्र करना। वृन्दावन अयोध्या आदि भगवान् की लीलाभूमि तो भगवान् की चरणरज से ही पवित्र हो चुकी है। काशीजी विश्वनाथ की पुरी है, बदरिकाश्रम मे भगवान् नर-नारायण अब तक निवास करके लोक का कल्याण करने के निमित्त तप करते हैं। जो पवित्र देश नहीं हैं उन्हें ही तो पवित्र करना है। इसीलिये तो अवध कुलमंडन दशरथ नन्दन मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान् रामचन्द्र नंगे पैरों से ही राज्यपाट छोड़कर दक्षिण दिशा की ओर चल दिये। तब दक्षिण में अनार्यों का ही प्राबल्य था भगवान् ने उन देशों को पावन बनाया, राक्षसों को जीता और भगवान् ने रामेश्वर की स्थापना की। तब से ये देश भी पावन बन गये। दक्षिण मे और पूर्व में भी कुछ देश ऐसे हैं जो निषिद्ध माने जाते हैं, किन्तु उन देशों मे जो पवित्र नदियाँ हैं, उन नदियों के दोनों तट की योजन-योजन भूमि पवित्र मानी जाती है। जैसे मगध देश पवित्र नहीं है, किन्तु मगध मे जहाँ-जहाँ पुनपुन नदी है उसके दोनों किनारे की भूमि पवित्र है। गयापुरी मगध में है तो भी पवित्र है। इसी प्रकार दक्षिण के देश उतने पवित्र नहीं हैं, किन्तु उनमें बहने वाली ताम्रपर्णी, कृतमाला, पयस्विनी, महापुण्या, कावेरी नदी, प्रतीची कावेरी तथा महानदी आदि सरितायें परम पावन

मानी गयी हैं। जो लोग इन नदियों के किनारे पर रहकर इनके परम पावन पयका प्रेम पूर्वक पान करते हैं, उनको देश जन्य दोष नहीं लगता, वे प्रायः शुद्धचित्त होकर भगवान् वासुदेव के भक्त हो जाते हैं। इसलिये दक्षिण देश को कलियुग में भक्ति भगवती की जन्म भूमि कहा है। वैसे भक्त तो सर्वत्र होते हैं, वृन्दावन तो भक्तों का आश्रम ही है, सभी ने व्रज मे ही आकर आश्रय पाया है, किन्तु मथुरा प्रदेश त्रिभुवन मे नहीं गिना जाता। मथुरा तो तीनों लोकों से न्यारो है। भक्त जिस देश मे भी उत्पन्न होगा, उस सम्पूर्ण देश को पावन बना देगा। फिर चाहें वह कीकट देश ही क्यों न हो। भक्त का एक मात्र कार्य है भगवान् की अनन्य भाव से निरन्तर भक्ति करते रहना।"

इस पर महाराज निमि ने पूछा—"भगवन ! मुझे एक शङ्का रह गयी। जो सर्वात्मभाव से भगवान् के भजन में विलीन हो गये हैं, उन्हें देव पूजन पितरों का श्राद्ध तर्पण करना चाहिये या नहीं ?"

यह सुनकर महामुनि करभाजन बोले—"राजन् ! देवता, पितर तथा ऋषि आदि उन्हीं सर्वान्तरयामी प्रभु के अंग हैं, इनके पूजन करते रहने में हानि ही क्या है। जैसे ज्ञानी पुरुष का अन्तःकरण विशुद्ध बन जाता है, उसे बाहरी स्नान की आवश्यकता नहीं। वह विधि निषेध के बन्धन में नहीं, तो भी स्वभावानुसार वह स्नान कर ही लेता है। उसी प्रकार जिसने समस्त काम्य-कर्मों को छोड़ दिया है, जो सर्वात्मभाव से शरणागत वत्सल सर्वेश्वर श्रीकृष्णचन्द्र की शरण में चला गया है, तब फिर वह देव ऋण, ऋषि ऋण तथा पितृ ऋण सभी से छूट जाता है। राजन् जो दिवाला निकाल चुका है, फिर वह नियमानुसार किसी का ऋण देने को विवश नहीं। दिवाला निकाल कर पुनः पैदा करके वह किसी का ऋण चुकाता है

तो उसको निशेवना है। इसी प्रकार जिसने घर द्वारा कुटुम्ब परिवार सबको त्याग कर श्रीकृष्ण की सेवा ही अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया है उसे देवता, पितर, भाई, बन्धु, पत्नी, पुत्र तथा परिवार वाले के प्रति कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता। वह न तो विधि वाक्यों का दास है न किसी का ऋणी ग। यदि वह करता है तो कोई दोष नहीं। उसकी इच्छा के ऊपर निर्भर है। प्रभु पूजन के साथ अन्य देवता पितरों का पूजन करे अथवा न भी करे।"

राजा ने कहा—"महाराज! देखिये, जब तक शरीर है, मन है, इन्द्रियाँ हैं तब तक शरीर से पाप कर्मों के होने की सम्भावना है। मान लो भक्ति में ही लगे रहे और स्वभावानुसार कोई पाप बन गया, तब नरक जाना ही पड़ेगा, क्योंकि पापों का या तो प्रायश्चित्त करे या भोगे। और कोई छुटकारे का उपाय ही नहीं। जब भक्त प्रायश्चित्तादि कर्म न करेगा, तो वह पापों से कैसे छूटेगा?"

इस पर हँसकर महामुनि करभाजन बोले—"राजन्! जो प्रातः से सयकाल पर्यन्त और सायकाल से प्रात. पर्यन्त भगवत् सेवा में ही सलग्न रहता है उससे पाप कर्मों के होने का सम्भावना ही नहीं, उसे पाप करने का अवकाश ही कहाँ। फिर भी यह चित्त बड़ा चचल होता है। मन से या शरीर से अकस्मात् कोई निषिद्ध कर्म बन भी जाय, तो उसके पाप को उसके हृदय में विराजमान भगवान् नाश कर देते हैं। पाप की खिंची कालिमा को वे कलिकल्मषहारी केशव धो देते हैं। राजन्! पाप होता है विषयों में आसक्ति के कारण। विषयी लोगों को विषय के सेवन में सबसे अधिक सुख मिलता है, इसलिये वे पाप के परिणाम को जानते हुए भी उसे नहीं छोड़ सकते। भगवत् भक्त ने तो एक बार भजन के सुख को अनुभव कर लिया है।

यदि भूल से उसकी प्रवृत्ति कभी विषयों में हो भी जाय, तो फिर उसे स्वयं श्रीहरि पश्चात्ताप कराके उसके पापों को भस्म कर देंगे। इसलिये पापों का चिन्तन ही न करे। पापों से अधिक बलवान तो भगवान् का नाम है। निरन्तर नामों का कीर्तन करता रहे। नाम का रस मिलने पर ये विषय सुख स्वयं तुच्छ प्रतीत होंगे। राजन्! यह मैंने भगवान् के युगधर्म की पूजा का वर्णन किया अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो नवयोगेश्वरों के साथ महाराज निमि का जो सम्वाद हुआ था, उसे नारदजी वसुदेव जी से कह रहे हैं। इतनी कथा सुनाकर नारदजी ने वसुदेव जी से जो कहा उसे मैं आगे कहूँगा।"

छप्पय

या कलि गुन तैं रीझ जनम कलि महँ चाहें सुर।
होवें कलिमहँ भक्त करें कीर्तन धरि हरि उर॥
तजि सब विषय विलास शरन हरि की जे जावें।
सब रिन तैं ह्वै उरिन श्याम के धाम सिधावें॥
अशुभ करम यदि भूल तैं, कबहुँ भक्त तैं बनि परैं।
तिनकूँ शरनागतवत्सल, अघहारी श्रीहरि हरैं॥

———

श्री वसुदेव-नारद सम्वाद की समाप्ति

[१२१६]

इतिहासमिमं पुण्य धारयेद् यः समाहितः ।
स विधूयेह शमलं ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥*

(श्री भा० ११ स्क० ५ अ० ५२ श्लो०)

छप्पय

नव योगेश्वर दयो ज्ञान निमिकूँ ह्वै प्रमुदित ।
अति प्रसन्न नृप भये गये ह्वैकें मुनि पूजित ॥
नारद मुनि वसुदेव प्रश्न को उत्तर दीन्हो ।
शूर तनय ने ब्रह्म तनय को आदर कीन्हो ॥
मुनि बोले वसुदेवजी ! तुम सहपत्नी धन्य अति ।
जगमहँ जिनके सुत भये, वासुदेव श्रीजगत्पति ॥

संसार में धन्य वही है, जिसका भगवान् से कोई सम्बन्ध जुड़ जाय । भगवान् का पिता, पुत्र, शिष्य, सेवक, सखा, सुहृद, पत्नी, भक्त अथवा अनुरक्त बन जाय । उनकी कथा कहने सुनने वाला, नामगुण कीर्तन करने कराने वाला, उनकी सेवा, पूजा,

---

* श्रीशुकदेवजी राजा परीक्षित् से कह रहे हैं—"राजन् ! यह नारद वसुदेव सम्वाद अति पवित्र है, इस इतिहास को जो समाहित चित्त से धारण करता है, वह इस लोक में मोह को नाश करके ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है ।"

अर्चा, वन्दना आदि करने कराने वाला कोई भी क्यों न बन जाय, किसी भी प्रकार उससे कुछ सम्बन्ध स्थापित हो जाय, तो बेड़ा पार है।

सूतजी कहते हैं—"मुनियो! जब भगवान् श्रीकृष्णजी ने स्वधाम पधारने का विचार किया, तब उन्होंने वसुदेवजी को तत्व ज्ञान का उपदेश देने के लिये देवर्षि नारदजी का आह्वान किया। भगवान् की इच्छा समझकर वीणापाणि भगवान् नारद वसुदेवजी के समीप आये। वसुदेवजी ने उनसे भागवत धर्मों के सम्बन्ध में प्रश्न किया। उसी प्रश्न का उत्तर देते हुए नारदजी ने ऋषभ देवजी से इन्द्र पुत्री जयन्ती में उत्पन्न कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन इन नौ योगेश्वरों के साथ जैसे राजा निमिका सम्वाद हुआ वह सब इतिहास संक्षेप में सुनाया। राजा ने नौ प्रश्न किये और क्रमशः नवों भाइयों ने उनके उत्तर दिये। इन प्रश्नोत्तरों में सूत्र से समस्त भागवत धर्म निहित है, इसी का विस्तार भगवान् और उद्धवजी के सम्वाद में आगे किया जायगा। नारजी ने वसुदेव जी को नवयोगेश्वरों के इतिहास का उपसहार करते हुए कहा—"राजन्! नवयोगेश्वरों के मुख से मिथिलाधिप महाराज निमि भागवत धर्मों का उपदेश सुनकर परम प्रमुदित हुए। फिर उन्होंने उपाध्यायों के सहित उन सभी योगेश्वरों का विधिवत् पूजन किया। राजा की, की हुई पूजा को शास्त्रीय विधि से ग्रहण करके वे सभी सिद्ध योगेश्वर सबके देखते-देखते वहाँ के वहाँ अन्तर्धान हो गये। महाराज निमि ने जिस प्रकार योगेश्वरों से धर्म सुने थे, उनका उन्होंने विधिवत् पालन किया। उन धर्मों के पालन करने से राजा को परम शान्ति हुई और उन्हें अन्त में परमपद की प्राप्ति हुई।"

नारदजी वसुदेवजी से कह रहे हैं—"हे राजन्! जिस प्रकार

निमि ने भागवत धर्मों के आचरण से परमपद की प्राप्ति की उसी प्रकार आप भी इन धर्मों का आचरण करके परमपद पावें। आप ससार स असङ्ग रहकर श्रद्धा पूर्वक स्थिर चित्त से इन धर्मों का अनुसरण करो। वैसे तो आपके लिये कुछ कर्तव्य शेष हो नहीं रहा, क्योकि सर्वान्तर्यामी जगत् पिता परमात्मा में तुमने और तुम्हारा पत्नी ने पुत्र भाव स्थापित कर लिया है। आप उन्हें अत्यत प्रेम भरी दृष्टि से देखते हो, भगवान् का किसी भाव से देख ले उसका कल्याण है। तुम उन्हें प्रेम से भर कर आलिङ्गन करते हो, सिर सूँघते हो, मुख चूमते हो, प्यार करते हो, उनसे मीठी-मीठी प्रेम में सनी बातें करते हो, उन्हें मिश्री से भी मीठा बताते हो, उन्हें गुलगुला कर हँसते हो, अपने हाथ से खिलते पिलाते हो, साथ-साथ सोते हो, एक आसन पर बिठाकर अपने हाथ से खिलाते हो, अपना जूठा उन्हे देते हो, उनका जूठा तुम खाते हो, भगवान् के साथ इस प्रकार प्रेम का व्यवहार करने से तुम दोनों का अन्तःकरण विशुद्ध बन गया है। विशुद्ध अन्तःकरण वालों से सभी प्यार करते हैं। जिनके हृदय में कपट है, मुख से तो और कुछ कहते हैं, मन से और कुछ सोचते हैं ऐसे कलुषित हृदय वाला से कोई प्रेम नहीं करता। राजन्! आप बडभागी हैं, चाहें आप उन्हें भगवान् नहीं मानते। आप न मानें उनके भगवान् होने मे तो कोई सन्देह है ही नहीं। वे तो अपनी भगवत्ता दिखावेंगे ही। आप मिश्री को मिश्री न मानें, उसे अंधेरे मे भी खायँ, मुख को तो मीठा कर ही देगी, बढ़े हुए पित्त का तो शमन कर ही देगी। इसी प्रकार आप पुत्र भावसे ही सही उनसे प्यार तो करते ही हैं। यह प्राणी किसी से नहीं करता। ससारी रूप से आकर्षित होकर उसे चाहता है, ससार रूप नश्वर है, क्षणभगुर है, अन्त मे दुःख देने वाला है। भगवान्‌से सम्बन्ध हो जाय तो फिर चिन्ता नहीं, क्योंकि भगवान् तो नित्य है

शाश्वत है। देखो, शिशुपाल, दन्तवक्र, पौण्ड्र, शाल्व तथा रुक्मी आदि आसुरी प्रकृति के राजा लोग भगवान् से द्वेष करते थे। उन्हें भगवान् मानना तो पृथक रहा, शुद्ध क्षत्रिय राजा भी नहीं मानते थे। सम्बन्धी होने से वे भगवान् के साथ-साथ उठते बैठते थे, उनकी चलन, चितवन, चपलता चंचलता, चातुरी तथा चेष्टाओं को निहारते थे। द्वेष बुद्धि से उनका स्मरण करते थे। उनका कैसे भी सही चिंतन तो करते थे। जो जिस का चिंतन करेगा वह वैसा ही हो जायगा। वे शुद्ध भगवान् का चिन्तन करते थे, इसलिये वैसे ही बन गये। अब सोचिये, जब द्वेष करने वाले तर गये, तो प्रेम करने वाले क्यों न तरेंगे।

वसुदेवजी ने कहा—"तो महाराज! अब मैं क्या करूँ? अब तक तो मैं इन्हे अपना पुत्र मानता रहा हूँ।"

नारदजी ने कहा "अब तक मानते रहे अच्छा हुआ, तुम्हारा अन्तःकरण विशुद्ध बन गया। अब तुम इनमें पुत्र बुद्धि-मत करो। देखो, ये परमेश्वर हैं, अज हैं, अव्यक्त हैं, सर्वेश्वर हैं, जगन्नियन्ता हैं। इन्होंने माया से मानव रूप बना रखा है, इन्होंने अपनी इच्छा से अपने अतुल ऐश्वर्य को छिपा रखा है। ये स्वेच्छा से ही अवनि पर अवतरित हुए हैं।"

वसुदेवजी ने पूछा—"भगवन्! किस कारण ये अज अव्यक्त प्रभु अवनि पर अवतीर्ण हुए हैं?"

नारदजी ने कहा—"राजन्! राजवेष बनाकर बहुत से असुर भूमि के भार भूत होकर सज्जनों को पीड़ा पहुँचा रहे थे, उन असुरों के संहार के निमित्त तथा सज्जन और सुरों की रक्षा के निमित्त इन सर्वान्तर्यामी ने माया मानव रूप बनाया है। असुर संहार और साधु-प्रतिपालन यह तो इनके अवतार का गौण कारण है, मुख्य कारण तो अपने अनन्य उपासकों को अत्यधिक

आनन्द देना है। मानव रूप रख कर वे अपने भक्तों के साथ विविध भाँति की कमनीय क्रीड़ायें करते हैं। लेखक उन भगवत् चरित्रों को भागवती कथाओं के रूप में लिखते हैं। वे कथायें संसार-सागर से पार जाने के निमित्त सेतु के समान हो जाती हैं, उनके द्वारा सर्वसाधारण कम बुद्धि वाले मनुष्य भी इस अगाध दुस्तर संसार समुद्र के उस पार सरलता के साथ पहुँच जाते हैं। संसारी लोगों का यश तो स्वर्ग के लिये होता है। ससार मे जिसका जब तक यश रहेगा, वह तब तक स्वर्ग में सुख भोगेगा, किन्तु इन भगवान् का यश तो मुक्ति के लिये ही संसार मे फैला हुआ है।"

सूतजी कहते हैं—"मुनियो ! नारदजी के ऐसे उपदेश को श्रवण करके महाभाग्यवान् वसुदेवजी ने तथा परम सौभाग्यशालिनी देवकीजी ने अत्यन्त विस्मित होकर अपने मोह का परित्याग कर दिया। महाभागो ! जो कोई इस श्रीवसुदेवजी और नारदजी के परम पुण्यप्रद पावन आख्यान को श्रद्धा सहित सावधान होकर श्रवण करेंगे; श्रवण करके प्रेमपूर्वक मनन करेंगे और सदा स्मरण करेंगे वे संसार सागर से सदा के लिये पार होकर ब्रह्मभाव को प्राप्त होंगे। इस लोक मे उन्हें शोक की बाधा न होगी। यह मैंने देवकी वसुदेव के निमित्त जो नारदजी ने तत्वज्ञान का उपदेश दिया वह आप से कहा, अब आप और क्या सुनना चाहते हैं ?"

शौनकजी ने कहा—"सूतजी, पीछे आपने कहा था, उद्धवजी को भगवान् ने तत्वज्ञान का उपदेश दिया, उसे और हमारी सुनने की इच्छा है। कृपा करके श्रीकृष्ण उद्धव सम्वाद को आप हमे और सुनावें।"

सूतजी ने कहा—"अच्छी बात है महाराज ! अब मैं आपको श्रीकृष्णोद्धव सम्वाद को ही सुनाता हूँ।"

छप्पय

यों दैकें उपदेश गये नारद मुनि इत उत ।
मोह छोड़ि वसुदेव देवकी दयो कृष्ण चित ॥
सूत कहें—"यह सुखद चरित निरमल अति पावन ।
मोह विनाशक मुक्ति करन जग दुःख विनाशन ॥
यों नारद वसुदेव को, प्रश्नोत्तर मुनिवर भयो ।
कहूँ ज्ञान अब अति विशद, जो प्रभु उद्धव तैं कह्यो ॥

—:—

"आगे की कथा ५३ वें खण्ड में पढ़ें"